

श्रीस्वामिनारायण मतीय वेदान्तसिद्धान्त और भक्तिसाधना की विकसनप्रक्रिया

(१.उपक्रम)

श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा ।
सर्वभक्तसमुद्गारे विस्फुरन्तं परं नुमः ॥
स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः ।
उपास्यः इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम् ॥
विशिष्टाद्वैतवादस्य कृष्णभक्तेश्च पोषकः ।
शिक्षापत्र्युपदेशेन लोकोद्धारपरायणः ॥
सहजानन्दस्वामी यः सहजानन्दवर्धकः ।
तमस्मन्मार्गसुहृदं हृदयेन वयं नुमः ॥

प्रस्तुत आलेखपत्रमें हम श्रीसहजानन्द स्वामीजी, इतःपर 'श्रीजी महाराज' पदेन अभिधेय, द्वारा लिखित शिक्षापत्री तथा वचनामृत की ही तरह उनके अनुगामी परवर्ती क्रोशस्तम्भरूप ग्रन्थकारों द्वारा भी निरूपित इस नूतन वेदान्तसम्प्रदायमें उत्तरोत्तर परिलक्षित होते यथावभात विकासका कुछ लेखा-जोखा प्रस्तुत करना चाहेंगे।

सभी सम्प्रदायोंमें बहुत सारी बातें प्रायः मूलरूपमें मतप्रवर्तक आचार्यद्वारा स्वशिष्यसमुदायको सम्बोधित कर उपदिष्ट होती हैं। परवर्ती कालमें, परन्तु, अन्यान्य मतोंके साथ होनेवाले संवाद-विवादकी प्रक्रियाके वश अर्थात् मूलोपदेशोंके बीजभावमें रही विकसनक्षमताके अंकुरित होनेके बाद प्रतिपक्षी मतोंके भी प्रभाववश बहुत मत विलक्षण रीतिसे पल्लवित पुष्पित तथा फलित होते हुवे भी दिखलायी देते हैं। श्रीस्वामिनारायणीय मतका भी विकास इस प्रक्रियाके अपवादरूपेण हुवा हो ऐसा लगता तो नहीं है। क्योंकि प्रत्येक जीवित सम्प्रदाय एक प्रवहमाण नदीकी तरह होता है। नदियोंका प्रवाह प्रायः कुछ सहायक नदियोंको आत्मसात

कर कभी प्रचुर तथा गम्भीर बन जाता है, तो कहीं उसका प्रवाह किसी अन्तर्द्वीपके व्यवधानके कारण विभक्त हो कर दो विभिन्न दिशाओंमें बंट जाता है; अथवा कहीं उस नदीके तटपर अवस्थित कृत्रिम या अकृत्रिम हृदोंमें कभी आंशिक पर्यवसानके के कारण भी जलप्रवाह क्षीण हो जाता है, तो कहीं-कभी दूसरी ही नदियोंको पुनः आत्मसात कर वही जलप्रवाह पुनः प्रबल एवं गम्भीर भी हो पाता है।

तदनुसार श्रीजी महाराजने स्वकीय सिद्धान्त और साधना के बारेमें अपने अभिप्रायोंको बीजरूपेण शिक्षापत्री में तथा अंकुररूपेण वचनामृत में प्रकट किये हैं। इनमें अधिकांश वचनामृत मौखिक रूपमें दिये गये उपदेश हैं। इनका संकलन किन लोगोंने किया इस बारेमें तथा इनकी संख्याके बारेमें भी कुछ मतभेद सा प्रतीत होता है। क्योंकि मयाशंकरात्मज गिरिजाशंकर शास्त्रिकृत संस्कृतानुवादरूप वचनामृतकी अहमदाबादसे जो प्रथमावृत्ति विक्रम संवत् १९९६ में प्रकाशित हुयी थी, इस संस्करणमें वचनामृतोंकी संख्या २७३ बतायी गयी थी। इसमें संकलनकर्ताओंके नाम “मुक्तानन्दो अथ गोपालानन्दो मुनिः उदारधीः ब्रह्मानन्दमुनिः नित्यानन्दः शुकमुनिः तथा तैः पञ्चभिः सुसंगत्य श्रीहर्षुक्तिसुधोदधिः लिखितः शोधितः चापि यथामति यथाश्रुतम्” (वचना.३।२७३) उपलब्ध होते थे। बादमें विक्रम संवत् २०३६ में भारतीयविद्याभवनद्वारा प्रकाशित तथा श्रीरामवल्लभ शास्त्री द्वारा हिन्दीभाषामें अनूदित संस्करणमें वचनामृतोंकी संख्या २६२ तथा संकलनकर्ताओंके नाम मुक्तानन्दः च गोपालानन्दो मुनिः उदारधीः नित्यानन्दशुकानन्दौ चत्वारो मुनयस्तु ये एतैः संगत्य लिखितानि इत्थं धर्मजनेः हरेः वचोऽमृतानि सर्वाणि यथामति यथाश्रुतम्” (वचना.३।३९=२६२) यों वचनामृतसंख्या तथा संकलनकारों के नामोंमें भी विवरणान्तर उपलब्ध होता है। अर्थात् ११ वचनामृतोंको परिशिष्टतया प्रकाशित किया गया है। सम्मान्य प्राध्यापक श्री ज.आ. याज्ञिक महोदयका कहना है कि श्रीजी महाराजके निजी सचिवकल्प श्रीशुकमुनिके प्राथमिक प्रारूपके पश्चात् श्रीजी महाराजके अन्य तीन शिष्य मुक्तानन्दस्वामी गोपालानन्दस्वामी और नित्यानन्दस्वामी यों अन्ततः इन चारों अनुगामिओंके सम्पादकमण्डलने मिल कर प्रश्नों तथा समाधानों के चयनके द्वारा इन्हें लिपिबद्ध किया (द्रष्ट. 'द फिलोसोफी ऑफ श्रीस्वामिनारायण' पृ.८-९). इन वचनामृतोंको

लिपिबद्ध करनेकी श्रीजी महाराजकी आज्ञाके अनुसार अनुष्ठित यह लेखनकार्य उनकी विद्यमानतामें हुवा या उनके पश्चात् यह जतानेको भी “एवं हि तानि सर्वाणि त्रिनगाक्षिभिः (पा. भे. द्विरसाक्षिभिः) सन्ति संलिखितानि श्रीमहाराजनिदेशतः... आप्यायन् निजजनान् स्वकीयवचनमृतैः जयति श्रीहरिस्वामी श्रीमहर्गपुरे प्रभुः” (तत्रैव ३।३९=२६२) विवरण भी ग्रन्थोपसंहारमें दिया गया है. इस उल्लेखके आधारपर श्रीजी महाराजकी विद्यमानतामें लिपिबद्धीकरण भी प्रतीत तो अवश्य होता है. इस संकलनका प्रमापण, परन्तु, स्वयं श्रीजी महाराज द्वारा हुवा या नहीं इस बारेमें साम्प्रदायिक ऐतिह्यप्रमाण क्या हैं कमसे कम मुझे तो अवगत नहीं है. किसी भी सूरतमें इतना सर्वमान्यतया ध्रुव सत्य लगता है कि शिक्षापत्री स्वयं उनके करकमलोंसे लिखी गयी है. ऐसी स्थितिमें इन दोनों ग्रन्थोंमें से प्रकृष्ट प्रामाण्य स्वामिनारायणसम्प्रदायमें किसका माना जाना चाहिये! कई विद्वानोंके अभिप्रायके अनुसार, परन्तु, ये दो ही प्रामाणिकतया श्रीजीमहाराजके वचन हैं. अन्योका प्रामाण्य सर्वमान्य न होनेसे वे यहां विमर्शार्थ अनिवार्य नहीं लगते हैं.

जहां तक कालिक पौवापर्यका प्रश्न है तो संवत् १८७६ की मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्थीसे ले कर संवत् १८८२ की माघशुक्ला तृतीया के बीच गढडा सारंगपुर कारियाणी लोया पंचाला पुनः गढडा तथा वडताल में जो कुछ उपदेश दिया वह वचनमृत का अधिकांश भाग शिक्षापत्री से पूर्व ही प्रकट हुवा माना जाता है. शिक्षापत्री संवत् १८८२ की माघशुक्ला पंचमीके दिन इसके बाद वडतालमें लिखी गयी. बादमें वि.सं.१८८२ से लेकर १८८६ तकके अहमदाबाद और गढडा में दिये गये उपदेश अकत्यप्रकरणतया यहां लिपिबद्ध किये गये हैं. इनके अलावा भी कतिपय ग्रन्थ प्रकट हुवे माने जाते हैं किन्तु उनका प्रामाण्य सर्वमान्य है कि नहीं यह तो जिज्ञास्य ही है.

(२.विचिकित्सा)

अस्तु, इन दोनोंमें स्वयं श्रीजीमहाराजके दिव्य अभिप्रायोंका स्वहस्ताक्षरालेखित सारोपदेश या श्रोतृजनोंद्वारा यथास्मृत उपदेश जो उपलब्ध होता है यह यों है :

(१)“वेदाः च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधं पुराणं भारतेतु श्रीविष्णुनामसहस्रकं तथा श्रीभगवद्गीता नीतिश्च विदुरोदिता धर्मशास्त्रान्तरगता च याज्ञवल्क्यऋषेः स्मृतिः. एतानि अष्ट मम इष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि. स्वहितेच्छुभिः एतानि मच्छिष्यैः सकलैरपि श्रोतव्यानि अथ पाठ्यानि कथनीयानि च द्विजैः...शारीरकाणां भगवद्गीतायाः च अवगम्यतां रामानुजाचार्यकृतं भाष्यम् आध्यात्मिकं मम. एतेषु यानि वाक्यानि श्रीकृष्णस्य वृषस्य च अत्युत्कर्षपराणि स्युः तथा भक्तिविरागयोः मन्तव्यानि प्रधानानि तान्येव इतरवाक्यतः. धर्मेण सहिता कृष्णभक्तिः कार्या इति तद्रहः” – “मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम च ईप्सितं तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिः च गम्यतां” – “सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्यनन्दनः श्रीविदुलेशः कृतवान्... सेवारीतिः च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि”(शिक्षापत्री : ९३-१०२,१२१ तथा ८१-८२).

(२)“हम अपना अभिप्राय संक्षेपमें कहते हैं : और वह यह है कि शंकरस्वामीने जिस प्रकारका अद्वैत ब्रह्मका प्रतिपादन किया है, उसमें हमारी रुचि नहीं है. रामानुज स्वामीने जिस प्रकार क्षर-अक्षरसे परे पुरुषोत्तम भगवान्का निरूपण किया है, उन पुरुषोत्तम भगवान्की तो हम उपासना करते हैं. गोपियोंके समान उन पुरुषोत्तम भगवान्की हम भी भक्ति करते हैं. शुकजी तथा जड़भरत के सदृश हमें भी वैराग्य और आत्मनिष्ठा है. यह हमारा अभिप्राय तथा रुचि है. हमारी इस वार्ता तथा हमारे द्वारा मान्य हमारे सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंपर जो बुद्धिमान पुरुष पूर्वापर दृष्टिसे विचार कर उन्हें देखेगा, उसे उनकी सभी बातें समझमें आ जायेंगी”(वचनमृत : लो.प्र.१४।१२२).

इस तरह हम देख सकते हैं कि शिक्षापत्री में उप्त बीजभावोपम उपदेशके साथ-साथ वचनमृत में अंकुरित हुवे उसके रूपके बीच क्या-कितना तारतम्य प्रकट हुवा. स्वमान्य शास्त्रोंकी, परन्तु, व्यावहारिकी इयत्ता, उन शास्त्रोंके निःसन्दिग्ध तात्पर्यावगमार्थ पूर्वाचार्यपरम्परागत भाष्य, उनका किस प्रयोजनविशेषवश

आश्रयणकी तरह ही उस प्रयोजनविशेषकी पूर्तिके हेतु तदानुसरणीय साधनाप्रणाली का भी इससे अधिक निश्चल एवं सुस्पष्ट शब्दोंमें निरूपण एवं स्वीकार शक्य नहीं है। इन उपदेशोंके आधारपर संक्षेपमें श्रीस्वामिनारायणीय मतको संख्याशास्त्रीय समीकरणकी रीतिमें अभिव्यक्त करना हो तो कहा जा सकता है-

“रामानुजीय वेदान्त + पुष्टिमार्गीया श्रीकृष्णभक्ति = श्रीस्वामिनारायणीय मत”

वैसे यह समीकरण जितना सरल प्रतीत होता है, वस्तुतः कथा उतनी अब सरल नहीं रह गयी है। क्योंकि यह तो अपनी बीजभावावस्थाका द्योतक ही समीकरण हो सकता था। वैसे शिक्षापत्री गत “शारीरकाणां भगवद्गीतायाः च अवगम्यतां रामानुजाचार्यकृतं भाष्यम्” - “मतं विशिष्टाद्वैतं मे” विधानोंका ही केवल अवलम्बन करनेपर तो स्पष्टतया ही इतना झलक जाता है कि श्रीजीमहाराजके मतमें न केवल विशिष्टाद्वैतवाद अंगीकृत है अपितु रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवाद ही मान्य है। यह वचनमृत “उद्धवजी स्वयं रामानन्दस्वामिरूप थे। श्रीरंगक्षेत्रमें उन रामानन्दस्वामीने स्वप्नमें साक्षात् रामानुजाचार्यसे वैष्णवी दीक्षा प्राप्त की। इसलिये रामानन्दस्वामीके गुरु रामानुजाचार्य हैं। उन रामानन्दस्वामीके शिष्य हम हैं। ऐसी गुरुपरम्परा जाननी” (वचना.वर्ता.१८।२१८) के भी आधारपर अपरिहार्य बन जाता है।

ऐसी स्थितिमें एक सम्प्रदायमें दीक्षित होनेके बाद भी उस सम्प्रदायके सिद्धान्तोंसे अपना पीछा छुड़ानेकी मनोवृत्तिको मान्य करनेपर तो कल स्वयं स्वामिनारायण सम्प्रदायमें ही दीक्षित हो कर श्रीजी महाराजको अभिप्रेत मतसे पृथक् मत प्रकट करनेकी भी स्वतन्त्रता कोई क्या श्रीजीमहाराजके नामपर ले सकता है या नहीं ?

यों रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवाद न केवल दीक्षापरम्पराधिगत है अपितु निजास्थाभ्युपगत भी है ही। अन्यथा अंशतो रामानुजीय मतका स्वीकार, उदाहरणतया नारायणके सर्वान्तर्यामी होनेका, विशिष्टाद्वैतको स्वीकारे बिना भी द्वैतवादी तथा शुद्धाद्वैतवादी वेदान्तसिद्धान्तोंमें भी प्रसिद्ध ही है। इसी तरह अंशतो विशिष्टाद्वैतवादका

अंगीकार भी रामानुजीय मतको माने बिना भी शैवविशिष्टाद्वैतवादमें भी प्रसिद्ध ही है। परन्तु रामानुजाचार्यकृत भाष्यानुसारी विशिष्टाद्वैतवाद का श्रीजीमहाराजद्वारा निजकण्ठोक्त अंगीकार यहां गम्भीर समस्या खड़ी कर देता है। जैसा कि हम देख सकते हैं कि बादमें इस समीकरणको जिस तरह अंकुरित पल्लवित पुष्पित तथा फलित किया गया उसकी विलक्षणतापर दृष्टिपात करनेपर श्रीस्वामिनारायणीय मतकी विकासरेखा निश्चय ही जटिलतर होती चली जाती है।

(३. श्रीरामानुजमत)

एतदर्थ रामानुजीय वेदान्तकी मौलिक विशेषताओंको यदि संक्षेपमें दृष्टिगत करना हो तो जो रामानुजीय वेदान्ताभिमत तत्त्वविभाग श्रीवेदान्तदेशिकने अपने तत्त्वमुक्तकलाप नामक ग्रन्थमें जिस तरह प्रतिपादित किया वह यों है :

“पदार्थ = द्रव्य + अद्रव्य. द्रव्य = जड + अजड.
जड = अव्यक्त + काल. अजड = प्रत्यक् + पराक्.
प्रत्यक् = जीव + ईश. पराक् = नित्या भूति^(शुद्धमत्त) + मति”.

(तत्त्वमुक्ताकलाप : ६).

इस तत्त्वविभाजनके चित्रको विशिष्टाद्वैतवादकी चौखटमें कैसे जड़ा गया यह देखनेको पुनः श्रीवेदान्तदेशिककी ही न्यायसिद्धाञ्जन ग्रन्थगत यह एक सूक्ति ही पर्याप्त है :

“अशेषचिदचित्प्रकारं ब्रह्म एकमेव तत्त्वम्. तत्र प्रकारप्रकारिणोः प्रकाराणां च मिथो अत्यन्तभेदेऽपि विशिष्टैक्यविवक्षया एकत्वव्यपदेशः... इदमेव इत्थमभूतं सामान्यतः प्रमाविषयतया विशेषतः प्रकर्षेण मेयतया च प्रमेयम् उक्तम्. तदन्तर्गतञ्च सर्वं द्रव्याद्रव्यात्मना विभक्तम्. उपादानं द्रव्यम्. अवस्थाश्रयः उपादानम्”.

(न्यायसिद्धाञ्जन : जडद्रव्यपरिच्छेद).

(४. श्रीस्वामिनारायणीय आधुनिक सिद्धान्तमें प्रकट होता अन्तर्विरोधाभास)

अब श्रीस्वामिनारायणीय वेदान्त यदि यथोक्त रामानुजीय तत्त्वविभाग तथा सामान्य सिद्धान्त के दो किनारोंके बीचमें न बह कर स्वतन्त्र तत्त्वविभाजन तथा नूतनरीतिके विशिष्टाद्वैतवाद को प्रस्तावित करना चाहता हो तो और तदनुसार श्रुति गीता सूत्र पुराण आदिकी भी व्याख्या प्रस्तुत करने लग जाये तो उसकी मौलिकता तो मान्य हो पायेगी परन्तु रामानुजभाष्यानुसारी विशिष्टाद्वैतवादिता या प्रामाणिकता नहीं ! और इसके अभावमें श्रीजी महाराजका उल्लिखित उद्घोष निश्चयेन वदतोव्याघातार्थक होनेसे अप्रामाणिक सिद्ध होगा. कोई भी श्रीजी महाराजका अनुगामी श्रीजी महाराजके वचनोंके फलितार्थसे अपने-आपको बन्धनमुक्त कैसे मान सकता है ? अतः इस विरोधाभासके परिहारके अनुष्ठानमें तत्पर कोई ग्रन्थ या तो उपलब्ध ही नहीं या मुझे प्राप्त नहीं हो पाया है. यह एक गम्भीर समस्या मुझे खटकती है, श्रीजी महाराजके मूलवचनोंका वास्तविक अभिप्राय हृद्गत करनेमें. इस बारेमें श्रीस्वामिनारायणीय विद्वानोंके क्या स्पष्टीकरण सम्प्रदायमान्य हैं, यह मुझे ज्ञात नहीं है. अतः मुझे लगता है कि इस शिक्षापत्री के बाद वचनामृत आदि ग्रन्थोंमें जो-जैसा प्रतिपादन उपलब्ध होता है उसकी संगति कुछ न कुछ बैठानी ही चाहिये.

क्योंकि जहां तक तत्त्वविभागका प्रश्न है तो चिदचिद्विशिष्ट-ईश्वररूप तत्त्वत्रयीका तो शिक्षापत्री के इन श्लोकोंमें हम प्रतिपादन सुस्पष्ट शब्दोंमें पाते ही हैं. इस प्रसंगपर भी इस बीजोपदेशरूप ग्रन्थरत्नमें, जहां तत्त्वपञ्चककी स्वीकृति अतीव प्रसक्त थी, उसका उपदेश प्राप्त न होना अतीव विस्मयकारी बात लगती है. द्रष्टव्य यथा :

ज्ञानञ्च जीवमाया-ईशरूपाणां सुष्ठु वेदनम् ।

हृत्स्थोऽणुसूक्ष्मश्चिद्रूपो ज्ञाता व्याप्याखिलां तनुम् ।

ज्ञानशक्त्या स्थितो जीवो ज्ञेयोऽच्छेद्यादिलक्षणः ॥

त्रिगुणात्मा तमः कृष्णशक्तिर् देहतदीययोः ।

जीवस्य चाहंममताहेतुर् मायावगम्यताम् ॥

हृदये जीववद् जीवे योऽन्तर्यामितया स्थितः ।

ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशोऽसौ सर्वकर्मफलप्रदः ॥

स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः ।

उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम् ॥

स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभुः ।

रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायणः स हि ॥

ज्ञेयोऽर्जुनेन युक्तोऽसौ नरनारायणाभिधः ।

बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामोच्यते स च ॥

एते राधादयो भक्ताः तस्य स्युः पार्श्वतः क्वचित् ।

क्वचित् तदंगेऽतिस्नेहात् सतु ज्ञेयः तदैकलः ॥

(शिक्षापत्री : १०४-१११).

यहां अतिरिक्त दो तत्त्वों, नामतः ईश्वर और अक्षरब्रह्म, का अनुल्लेख साथ ही साथ मूर्तीभूत अक्षरब्रह्मके भीतर पुरुषोत्तमकी अवस्थितिके बजाय स्वयं साक्षात् पुरुषोत्तमके भीतर इन तथाकथित ईश्वरके मूर्तिरूप पार्श्ववर्तिओंकी अतिस्नेहवश अवस्थानकी कथा सर्वथा विपरीत कथा ही लग रही है.

श्रीनित्यानन्द मुनिकृत शाण्डिल्यसूत्रभाष्यम् के साथ इसका संवाद भी उपलब्ध होता है यथा “क्षरं प्रधानम् अक्षरं पुरुषः. अनेन मिथः संसृष्टत्वस्वभावकथनात् तुषातण्डुलयोरिव एकीभूय बीजभावः परमात्मनः उपादानभावे द्वारम् इति विशेषः च आचितोः दर्शितः... एवं मायाजीवेशानां स्वरूपस्वभावनिर्णयम् उक्त्वा प्रकृतम् अनुसरति” (शा.सू.भा.२।१।१७-१८). यहां हम देख सकते हैं कि समूचे ग्रन्थमें तत्त्वपञ्चक कहीं भी वर्णित नहीं हुवा है प्रत्युत उद्धृत वाक्यांशमें कण्ठतः अक्षरब्रह्माऽद्वारक अर्थात् तुषातण्डुलन्यायेन प्रधानपुरुषद्वारक परमात्माकी उपादानता तथा मायाजीवेशकी त्रिपुटी ही प्रतिपादित हुयी है ! भूलना नहीं चाहिये कि इन्हीं श्रीनित्यानन्द मुनिका नाम वचनामृत के संकलनकारोंमें भी उल्लिखित है. अतः इनका यह तत्त्वपञ्चकके बारेमें मौन अतिशय विषम स्थितिमें तत्त्वपञ्चककी धारणाके प्रामाण्यको रख देता है. यही कथा एतत्सम्प्रदायानुसारि श्रीगोपालानन्द स्वामिकृत ब्रह्मसूत्रभाष्यके अवलोकन करनेपर भी प्रकट होती है. यहां यद्यपि तत्त्वपञ्चककी धारणा तो प्रस्तुत हो गयी

है परन्तु फिरभी अक्षरब्रह्मके मूर्तिमान स्वरूपतया स्त्री-आकारवाली राधालक्ष्मी आदिके निष्कासनपूर्वक पुरुषाकार श्रीगुणातीतानन्द स्वामीकी धारणा कमसे कम मुझे कहीं दिखलायी नहीं दी. द्रष्टव्य : “महामुक्तैः सेवितम् अन्यं क्षराक्षरपुरुषभिन्नम् ईशं सर्वनियन्तारं राधालक्ष्मीपतिम्” (ब्र.सू.भा.र.१।२।११). यह विधान शिक्षापत्री के पूर्वोद्धृत “एते राधादयो भक्ताः तस्य स्युः पार्श्वतः क्वचित् क्वचित् तदंगे अतिस्नेहात् सतु ज्ञेयः तदा एकलः” से सर्वथा सुसंगत भी लगती है.

फिरभी सम्माननीय प्राध्यापक श्रीरमेश दवेका एक विलक्षण वदतोव्याघात कि “Akshar too has a divine personality...in human form. However, the mayika distinction of male or female do not apply to him for he is beyond the three gunas of maya” (द भक्तभगवान् रिलेशनशिप पृ.१२७) यह तो श्रीजी महाराजकी मूलविचारधारासे असंगत सा ही प्रतीत होता है, यह मूलासंगति पंचालामें दिये गये उपदेशके आधारपर भी सिद्ध होती है -

“श्रीजी महाराज बोले कि हमने बहुत दैर तक विचार किया और समस्त शास्त्रोंपर दृष्टि डाल कर देखा तो हमें ऐसा ज्ञात हुआ कि ‘श्रीकृष्ण जैसा सर्वशक्तिसम्पन्न कोई अन्य अवतार नहीं हुवा’... वह किस प्रकार ? सुनिये : सर्वप्रथम स्वयं श्रीकृष्ण भगवान्ने देवकीकी कोखसे जन्म लिया तब शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण कर उन्हें चतुर्भुजरूपमें दर्शन दिया. इसके द्वारा उन्होंने लक्ष्मीपति वैकुण्ठनाथका भाव अपने स्वरूपमें दिखलाया. उन्होंने माता यशोदाको अपने मुखमें विश्वरूप दिखाया. इससे उन्होंने सहस्रशीर्षरूप द्वारा अनिरुद्धभाव स्वयंके स्वरूपमें दिखाया तथा अक्रूरको यमुनाकी धारामें दर्शन दिया. इससे शेषशाधिभाव दिखाया. तथा युद्धस्थलमें अर्जुनको विश्वरूप दिखलाया... इस प्रकार अनन्त ब्रह्माण्ड दिखलाकर पुरुषोत्तमभाव बताया. तथा स्वयं श्रीकृष्णने कहा कि ‘यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमः अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः’ इस प्रकार श्रीकृष्णने स्वयं अपना पुरुषोत्तमभाव दिखाया. गोलोकवासी

राधिकासहित श्रीकृष्ण भी स्वयमेव थे...इस दृष्टिसे भी कृष्णावतार जैसा कोई अवतार नहीं है. वस्तुतः यही सर्वोपरि है.” (वचना.पंचा.६।१३२).

अतएव मुझे यही अब अतीव जिज्ञासित है. क्योंकि मानवीय स्वरूप या तो पुरुषाकार होता है या स्त्र्याकार, पृथक तो होता नहीं. ऐसी स्थितिमें केवल रामानुजमताभिप्रेत लक्ष्मीसेवित नारायणकी परमपुरुषताके स्थानपर पुरुषाकारद्वयीकी परमपुरुषताके प्रतिपादनकी संगति कैसे बैठानी! वह न तो श्रीजी महाराजकी स्वघोषित अनुगामिताके आधारपर और न उनके शिक्षापत्री में उपलभ्यमान कण्ठोक्त वचनोंके आधारपर निरस्त हो पायेगी. ऐसी स्थितिमें श्रीगुणातीतानन्दजीको अक्षरब्रह्मके मूर्तिमान स्वरूपके रूपमें प्रस्तुत करना केवल वचनमृत के भी आनुमानिक आधारपर ही सम्भव है. अर्थात् शिक्षापत्री का इस विषयमें काष्ठमौन अतिशय खटकनेवाली बात मुझे लगती है. इसके अलावा वचनमृतमें उपलभ्यमान उपदेशोंका भी इस सन्दर्भमें अवगाहन करनेपर इस विषयमें एक और बात स्फुरित होती है. यथा “जब भगवान् मायामें आते हैं तब माया भी अक्षरधामरूप हो जाती है. यदि चौबीस तत्त्वोंमें प्रविष्ट हों तो चौबीस तत्त्व भी ब्रह्मरूप हो जाते हैं” (वचना.वस्ता.७।२०७) ऐसा सुस्पष्ट शब्दोंमें सिद्धान्ति है ही. फिर भी व्यर्थ ही रामानुजाभिमत श्रीशक्तिको मायिक मानना या परोक्षवृत्तिसे उसकी गौणता ध्वनित करनी, इसमें प्रयोजन क्या है यह स्पष्ट नहीं हो पाता! जबकि स्वयं भागवतपुराणके “निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः” (भाग.पुरा.२।४।१४) वचनकी रामानुजी व्याख्यामें तो यद्यपि नहीं परन्तु जिनकी श्रीकृष्णसेवारीतिको नियतानुसर्तव्य घोषित किया गया ऐसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी सुबोधिनीमें तो “‘निरस्तसाम्ये’ति काचिद् भगवतः सिद्धिः अस्ति ‘राधस्’ शब्दवाच्या. न तादृशी सिद्धिः क्वचिद् अन्यत्र नवा ततोऽपि अधिका. तथा सिद्ध्या भगवान् स्वगृहएव रमते. तच्च अक्षरात्मकं ब्रह्म. ‘रंस्यन्’ इति स्वनिष्ठमेव रसं तत्सम्बन्धाद् अभिव्यक्तं करोति इति. एतावता स्वरूपस्थितिव्यतिरेकेण न अन्यत्र रंस्यति इति भगवदीयो रसः तत्रैव प्राप्तव्यः. गृहञ्च तस्यैव. तत्साधनं च निरस्तसाम्यातिशया सिद्धिः.” - “यदा भगवान् स्वशक्तिरूपेण आविर्भूतः तदा शक्तीनां मध्ये श्रीः प्रथमा. सा शरीरएव बलवत् पूर्वं स्थिता. यदा भगवान् प्रभुत्वेन आविर्भूतः तदा सापि भोग्यत्वेन

आविर्भूता भार्येव... तस्याः शरीरन्तु ब्रह्मानन्दरूपम्... साहि अक्षरस्य आनन्दरूपा.” (भाग.सुबो.२।४।१४ - २।९।१३) अतः महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्याविर्भावित श्रीकृष्णसेवारीतिको अनुसरना अनिवार्य हो तो “श्री+कृष्ण=श्रीकृष्ण” समीकरणसिद्ध राधासहित कृष्ण ही सर्वाधिक्येन भजनीय होते हैं. बजाय कि श्रीगुणातीतानन्दस्वामिसहित श्रीसहजानन्दजीके भजनके.

(५. प्रकटपुरुषोत्तमताकी प्रयोगान्वितिमैं सीमा)

खैर, सभी सम्प्रदायोंने अपने-अपने मूलाचार्योंको भगवदवतार तो माना ही है. इस सन्दर्भमें मेरे वचनोंको अन्यथा आशयमें न लिया जाये तो कहना चाहूंगा कि केवलद्वैत सम्प्रदायके प्रवर्तक “अहं ब्रह्मास्मि”के उपदेष्टा भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने स्वयंके पूजामन्दिर नहीं प्रत्युत सामान्यशास्त्रसिद्ध विविध देवताओंकी ही मूर्तिओंके ही मन्दिर सिद्ध करवा कर पञ्चदेवोपासना अथवा शैव शाक्त स्कान्द गाणपत्य सौर तथा वैष्णव आराधनाके षड्विध मार्गोंका प्रचार किया था. यतिवर श्रीरामानुजाचार्य भी शेषावतारतया मान्य होनेपर भी श्रीलक्ष्मी-श्रीनारायणके ही मन्दिर स्थापित कर गये. यही कथा माध्वसम्प्रदायमें भी है. स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभुको भी श्रीकृष्णके अवतार माना जाता है, कहीं तो श्रीकृष्णसे अधिक भी परन्तु श्रीराधाकृष्णको गौण बना कर उनकी पूजाको बढ़ावा देनेवाले मन्दिर अल्प ही है. वाल्लभ सम्प्रदायमें भी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको “वस्तुतः कृष्णएव” (गोस्वामिश्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणकृत श्रीवल्लभाष्टक श्लो.८) माना गया है साक्षात् श्रीकृष्णमुखारविन्दके अवताररूप. हालमें इधर सो-डेढ़ सो वर्षमें अनधीतसिद्धान्त अनुगामिओंने हम अयोग्य महाराजश्रीओंमें अपनी श्रद्धा खो देनेके कारण नवीन वल्लभपन्थ अवश्य चलाया है. अन्यथा आराधनार्थ श्रीकृष्णकी महत्ता कभी वाल्लभ सम्प्रदायमें गौण नहीं बनायी गयी.

श्रीसहजानन्दजीके भी साक्षात् पुरुषोत्तमस्वरूप होनेमें, अतः सम्प्रदायद्वेषरहित किसीको भी किसी तरहकी कोई सैद्धान्तिक आपत्ति तो हो ही नहीं सकती. और न श्रीजीमहाराजके सहयोगी श्रीगुणातीतानन्दजीके अक्षरब्रह्मस्वरूप होनेमें भी. जो बात, परन्तु, सैद्धान्तिक विवेचनाके अन्तर्गत समझ नहीं आती वह यह है कि एतावता स्वामिनारायणीय मन्दिरोंमें श्रीकृष्ण या श्रीलक्ष्मीनारायण की जो अब गौणता प्रदर्शित करनेको श्रीजीमहाराजके पार्श्वमें उनको प्रतिष्ठापित किया जाता

है, उसकी वाचनिक संगति कैसे बैठानी ? इस विरोधाभासके उपशमनार्थ क्या-कैसी उपपत्तियां हैं यह भी मुझे जिज्ञास्य लगता है.

(६. आधुनिक एतन्मताभिज्ञोंके मत एवं कर्तव्य)

श्रीस्वामिनारायण सम्प्रदायके आधुनिक विद्वानोंका ऐसी स्थितिमें यह अवश्यानुष्ठेय कर्तव्य बन जाता है कि इस विषयमें साम्प्रदायिक समाधान प्रकट करें. यदि इन पांच तत्त्वोंका अन्तर्भाव रामानुजीय तत्त्वत्रयीमें करना अभिप्रेत माना होता, जैसे कि तत्त्वत्रयीकी व्याख्याके रूपमें श्रीवेदान्तदेशिकने द्रव्याद्रव्यादिके विभागका प्रतिपादन किया है, तो प्रकट होता अन्तर्विरोधाभास अवश्य ही कुछ शिथिल बन जाता. यह तत्त्वपञ्चककी कल्पना परन्तु इतनी अधिक न केवल रामानुजमतासहिष्णु है प्रत्युत स्वयं शिक्षापत्री के साथ भी कितनी असहिष्णुता प्रकट करती है, यह देख कर अतीव विस्मय होता है ! एतदर्थ श्रीजीमहाराजके वचनोंके साथ स्पष्टतया झलकते विरोधाभासको देखना हो तो इस सम्प्रदायके आधुनिक विद्वानोंके उद्गारोंके साथ मूलवचनोंका तुलनात्मक विमर्श आवश्यक लगता है. एक नहीं प्रत्युत अनेक विद्वान समवेत स्वरोंमें निरन्तर अपने दार्शनिक सिद्धान्तको अरामानुजीय तथा अपनी आराधनाप्रणालीको अपुष्टिमार्गीय सिद्ध करनेकी भरसक चेष्टा करते रहते हैं. यह अपने अधुनाविकसित रूपमें एक निष्ठुर सत्य हो सकता है परन्तु निजाचार्योंकितके प्रामाण्यनिर्वाहका विकराल प्रश्न असमाहित रह जाता है.

वैसे धर्म-दर्शनोंकी विविधताको मैं भारतीय चेतनाकी आत्मा मानता हूं. सो आज नहीं तो कल यह होना तो था ही. यह, वैसे, नितान्त अभिनन्दनीय भी होता है ! क्योंकि प्रत्येक धर्मसम्प्रदायोंमें कुछ कालके बाद इतनी सारी निर्दय रूढि तथा श्रद्धालु जनताकी श्रद्धाके शोषणके इतने मलिन रूप उभर जाते हैं कि नवीन सम्प्रदाय उभर कर उनका प्रतीकार न करें तो जनसाधारण आध्यात्मिकताके ऊपर ही विश्वास खो देनेके कगार तक पहुंच जाता है ! प्रश्न यहां, किन्तु, धार्मिक आस्थाकी विशुद्धिके निर्वाहका उतना नहीं है जितना कि श्रीजीमहाराजके वचनोंके अभिप्रायोंकी यथोपदिष्टमीमांसाका है. एतदर्थ पूर्वोदाहृत उपदेशोंको दोहरा कर अधुनाप्रकट विरोधाभासको देख लेना प्रासंगिक होगा -

(१) “शारीरकाणां भगवद्गीतायाः च अवगम्यतां रामानुजाचार्यकृतं भाष्यम् आध्यात्मिकं मम”.

(२) “मतं विशिष्टाद्वैतं मे”.

(३) “ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशोऽसौ सर्वकर्मफलप्रदः स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणं स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभुः. रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायणाभिधः” (यथापूर्वोद्धृत).

विरुद्ध

In Gujarat there is an active reforming sect called Swami-Narayanis who worship... Krishna and Radha. The founder, Sahajanand or Swami-Narayan, disgusted with the gross immorality of the Vallabhas, began shortly after 1804 to denounce them and to teach a purer system. He soon gathered a large compny of follwers and a sect was formed...Their philosophy is the Vishishtadvaita of Ramanuja, but in their theololgy they follow Vallabha... They retain the Vallabh mantra...’ Thus we see that Farquhar has allotted only one paragraph to Swaminarayanism; and even in such a small description, he has made more than five false statements which have been put by us in italics” (श्री ज.आ.याज्ञिककृत ‘द फिलोसॉफी ऑफ श्रीस्वामिनारायण’ पृ.१०).

वैसे तो वाल्लभ देवशास्त्र भी श्रीजी महाराजको मान्य है ही और इसे शिक्षापत्रीके आधारपर सिद्ध भी किया जा सकता है. इस तथ्यकी, परन्तु, उपेक्षा भी कर के चलें तब भी इतना तो ध्रुव निश्चित है कि उपरि निर्दिष्ट विरोधाभासके चलते श्रीजी महाराजकी रामानुजमतानुगामिताके निजकण्ठोक्त वचन अब या तो अप्रामाणिक ठहराने पड़ेंगे या फिर रामानुजमतानुगामिताविशिष्ट विशिष्टाद्वैतवादिता स्वीकारे बिना कोई समाधान ही दृष्टिगत नहीं होता.

सम्माननीय विद्वान् श्री ज.आ.याज्ञिक महोदयने ६६वें इंडियन् फिलोसोफिकल् कॉन्ग्रेसमें प्रस्तुत किये आलेखपत्र “विशिष्टाद्वैत ऑफ् स्वामिनारायण”के द्वितीय

परिच्छेदमें स्वामिनारायणीय वेदान्तको रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवादसे पृथक् सिद्ध करनेको छह हेतु दिये हैं. इनमें रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवादकी धारणामें दोषोद्भावना भी की गयी है.

वैसे वह मुझे इतनी गम्भीर नहीं लगती परन्तु उन्हें मान कर भी चलें तो मुझे यह कहनेकी तो इच्छा प्रबल ही होती है कि ये सारे दोष स्वयं श्रीजी महाराजके “शारीरकाणां भगवद्गीतायाः च अवगम्यतां रामानुजकृतं भाष्यम्” – “मतं विशिष्टाद्वैतं मे” (यथापूर्वोद्धृत) वचनोंपर लागू हो कर उनके वचनोंके प्रामाण्यको निरस्त ही कर देंगे

इसमें प्रथम हेतु तत्त्वपञ्चककी अंगीकृतिको बनाया गया है. इसका विचार तो हमने कर ही लिया. द्वितीय हेतुतया रामानुजधारणाके बारेमें सर्वपल्ली श्रीराधकृष्णनद्वारा उद्भावित दोषको सम्मान्य श्रीयाज्ञिक महोदयने प्रस्तुत किया है. वह दोष यह है कि रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवादमें भगवान् सर्वेसर्वा हैं तथा जीवात्मा तथा शरीर तो उनके केवल उपकरणरूप होते हैं. इसे श्रीयाज्ञिक महोदय भगवान्की परिपूर्णता लोकोत्तरता तथा अपराधीनता के विरुद्ध जाती बात मानते हैं और कहते हैं कि ऐसा दोष स्वामिनारायणीय दृष्टिमें नहीं खोजा जा सकता, क्योंकि केवल अन्तर्यामिशक्तिके द्वारा ही यहां शरीरशरीरिभाव स्वीकारा गया है. अब अपृथक्सिद्ध शरीरशरीरिभावके बारेमें श्रीयाज्ञिक महोदयका कहना है कि रामानुजमतमें, क्योंकि, अपृथक्सिद्ध चिदचिच्छरीरविशिष्ट माना गया है, अतः परमतत्त्वके स्वरूपमें शरीरनिर्भरतया चिदचिदतीतता सिद्ध नहीं हो पाती. जबकि केवल अन्तर्यामितामूलक शरीरशरीरिभावमें यह दोष प्रसक्त नहीं होता. मुझे इस विषयमें यों लगता है कि इस आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्तमें भी यदि सृष्टिसे पूर्व पुरुषोत्तम सूक्ष्मचिदचिच्छरीरविशिष्ट न हों तो चार या पांच ही गति अवलम्बनार्थ बच जाती हैं:

(१)या तो सूक्ष्म चिदचित्को अनित्य मानना. (२)या उन्हें सूक्ष्मावस्थामें पुरुषोत्तमके अशरीरभूत किसी तत्त्वरूप या तज्जन्म मानना. (३)या फिर आकाशोपम केवल आधारभूत पुरुषोत्तमके स्वरूपमें हुवा प्रकट मानना. (४)या सुवर्णोपम अविकृतपरिणामि-उपादानरूप

पुरुषोत्तमके स्वरूपमेंसे परिणत मानना. (५)या शक्तिरजतोपम मिथ्या मान लेना.

- (१) अनित्य माननेपर तत्त्वपञ्चकका शाश्वत तत्त्व होना निरस्त हो जायेगा.
(२) पुरुषोत्तमके अशरीरभूत किसी तत्त्वरूप या तज्जन्य माननेपर पुरुषोत्तमकी व्यापकता इस तरह निरस्त हो जायेगी कि वह अन्तर्यामी भी सिद्ध नहीं हो पायेगा. अन्यथा पुरुषोत्तमकी परमव्यापकता उसमें शरीरितया अनुक्तसिद्ध ही रहेगी.
(३) कल्पमें या तो विज्ञानभिक्षुके वेदान्तमें प्रवेश गलेपतित होगा. (४) कल्पमें वाल्लभ वेदान्तमें स्वामिनारायणीय मतका अनुपदिष्ट समावेश गलेपतित होगा.
(५) कल्पमें शांकरवेदान्तमें स्वामिनारायणीय मत पर्यवसित हो जायेगा.

सृष्टिके आधारतया यहां परब्रह्मको प्रस्तुत करनेके बजाय अक्षरब्रह्मको प्रस्तुत किया गया है. तथा उस अक्षरब्रह्मको भी पुनः स्वरूपेण नहीं परन्तु स्थूल जगत्के स्वरूपेण परिणामि-उपादानरूप प्रकृति-पुरुषके व्यापकत्वेन तथा नियामकत्वेन शरीरिकारण माना गया है.

भारमापक यन्त्रपर साक्षात् रखे बिना कोई पुरुष अपने सामानको निज कन्धोंपर लाद कर अपना भार मापना चाहे तो उसमें सामानका भार क्या व्यक्तिभारके साथ जुड़ नहीं जायेगा यों केवल अक्षरतत्त्वको तथा प्रकृति-पुरुषतत्त्वोंको अन्तर्गडु बनानेसे भी आपत्ति टल तो नहीं पायेगी और टलती होगी तो रामानुजीय वेदान्तमें भी टल जायेगी. क्योंकि आत्यन्तिक भेद तो दोनों ही मतोंमें समान है और इसी तरह विशिष्टका ऐक्य भी. अतः एकान्तरित द्व्यन्तरित अथवा त्र्यन्तरित शरीरापेक्षाके व्याजवश रामानुजमतका प्रत्याख्यान सम्भव नहीं लगता.

इसी तरह सृष्टि स्वार्थ है या परार्थ इस समस्याके बारेमें भी मुझे तो यही लगता है कि जीवानुकम्पार्थ माननेपर भी अनुकम्पा यदि परमात्माका स्वभाव हो तो स्वार्थ ही सिद्ध होगी तथा प्रार्थित उपकारप्रदर्शन हो तो सृष्टिपूर्व वह अप्रसक्तही होनेसे हेतु नहीं बन पायेगा.

तृतीय दोषतया रामानुजमतमें चिदचिच्छरीरोंकी अनिवार्यताको गिनाया गया है किन्तु वह भगवान्के metaphysical aspect सृष्टिकर्तृरूपमें अनिवार्य होनेपर भी theological aspect भगवान्के दिव्यधामस्थित स्वरूपमें वह रामानुजमतमें भी अनिवार्य मानी नहीं जा सकती. श्रीयाज्ञिक महोदय कहते हैं “Thus Visistadvaitism of Sri Svaminarayanan does not regard the world of matter and souls as an organic to the nature of God” (तत्रैव पृ.७) परन्तु शरीरितया अन्तःप्रवेशके बावजूद आर्गनिक नहीं मानना वदतोव्याघात ही है. हम कह चुके हैं कि आत्यन्तिक भेद तो उभयमतोंमें मान्य है. धार्यधारकभावरूपा विधृति इतरेतरव्यापृति interaction के बिना शक्य नहीं हो पाती. तदायत्तोत्पत्तिकत्व तदायत्तस्थितिकत्व तदायत्तप्रवृत्तिकत्व आदि शरीरीके उत्पादक आधार प्रेरक हुवे बिना शक्य नहीं. और इससे बचनेको जो उपपत्ति खोजी जायेगी उसका लाभ रामानुजीय मतको भी मिलेगा ही.

श्रीयाज्ञिक महोदय कहते हैं कि रामानुजमतमें परस्परापेक्षा दोष है जो स्वामिनारायणीय मतमें नहीं. मुझे लगता है कि यदि अक्षरब्रह्मको धाम माना जाता है तो पुरुषोत्तमको अपने अवस्थानार्थ उसकी अपेक्षा रहेगी ही. प्रत्युत नियतधाम होनेके कारण अक्षरब्रह्ममें धर्मिरूपताकी और परब्रह्ममें अक्षरब्रह्मके धर्मरूप होनेकी आशंका भी उठ सकती है, धर्मकी व्याख्या ही “तद्वृत्तिमत्त्वम्” (न्यायकोश पृ.३८६) मानी जाती होनेसे.

अस्तु यह तो स्थालिपुलाकन्यायेन कुछ समाधान हैं जो मुझे श्रीजी महाराजको मान्य विशिष्टाद्वैतकी उपपन्नताके हेतु स्फुरित होते हैं. आवश्यकता इस बातकी नहीं परन्तु स्वयं श्रीजी महाराजके वचनोंकी ऐसे आधुनिक विधानोंके साथ क्या संगति बैठानी इसकी ही महती है.

इनके अलावा ‘द भक्त भगवान्’ संगोष्ठीमें साधु श्रीहरिदासजजीने अपने आलेखपत्रमें कहते हैं “Swaminarayan accepts the fundamental principles of Ramanuja as basis of his philosophy, but goes much beyond him” (‘द भक्त भगवान् रिलेशनशिप’ पृ.१८९) इस रामानुजवेदान्तातिगामिताकी

सिद्धि जीवात्माओंके उद्धारार्थ ब्रह्माण्डोत्पत्तिके द्वारा आधुनिक स्वामिनारायणीय मतमें की है। जिज्ञास्य इस विषयमें यही है कि सृष्टिनिर्माण यदि जीवात्माओंके प्रति करुणातिरेकवश उद्धारके गम्भीर प्रयत्नरूप मानी जाये तो पुरुषको प्रकृतिके साथ जोड़ना और फिर उद्धार करना “प्रक्षालनाद् हि पंकस्य दूराद् अस्पर्शनं वरम्” न्यायेन उन्मत्तपुरुषवत् दुष्क्रमावलम्बन है। इसके बजाय तो रामानुजाचार्यकी निष्प्रयोजन कन्दुकक्रीडा “न प्रयोजनवत्त्वात् लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्” (ब्र.सू.२।१।३२-३३) सौत्र आक्षेप और समाधान के साथ अधिक सुसंगत प्रतीत होते हैं।

इसके अलावा रामानुजमतमें ब्रह्मपरिणामवाद अंगीकृत है जबकि आधुनिक स्वामिनारायणीय मतमें परब्रह्मप्रशासित प्रकृतिपरिणामवाद माना गया है, ऐसा साधु श्रीहरिदासजीका कहना है। प्रश्न यहां यह उठता है कि क्या रामानुजमतमें अचित्प्रकृति परब्रह्मप्रशासित नहीं है? श्रीरामानुजाचार्यका इस बारेमें क्या कहना है यह देखना हो तो : “तस्मात् क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणं मदीया प्रकृतिः सत्यसंकल्पेन मया अध्यक्षेण ईक्षिता सचराचरं जगत् सूयते अनेन क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणमदीक्षणेन हेतुना जगद् विपरिवर्ततइति मत्स्वाम्यं सत्यसंकल्पत्वं नैर्घ्नयादिदोषरहितत्वम् इत्येमादिकं वसुदेवसूनोः ऐश्वरं योगं पश्य” (गीताभा.९।१०) इससे कौन सी अधिक बात परब्रह्मप्रशासित प्रकृतिपरिणामवादतया कही जा रही है

(७. साधनाप्रणाली)

वैसे श्रीजी महाराजसे ३०३ वर्ष पूर्व हुवे श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुने भी अक्षरब्रह्मके बारेमें शुद्धाद्वैतवादका अवलम्बन कर के बहोत सारी वे ही बातें स्वीकारी तथा निज ग्रन्थोंमें अनेकत्र प्रतिपादित भी की हैं, यथा, अक्षरब्रह्म भगवद्धामरूप होता है, अद्वयज्ञानमार्गीयोपासनाद्वारा अक्षरब्रह्मसायुज्य होता है, अक्षरब्रह्मको अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके देशकालवस्तुपरिच्छेदरहित आधारतया तथा उसके सकलकारणकलापोंके उपादानकारणतया एवं निजदहराकाशतया भी निहार कर उसमें परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको अवस्थित मान कर भजन करनेवाला अक्षरब्रह्मात्मक व्यापिवैकुण्ठमें अक्षरात्मक देह प्राप्त कर भगवद्भजनका मोक्षावस्थामें भी निर्वाह कर पाता है आदि-आदि। अतः वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिसे अक्षरब्रह्मकी स्वीकृति भगवान् पुरुषोत्तममें सुदृढ-सर्वतोधिक स्नेहके पूर्वाङ्गरूप

माहात्म्यज्ञानके अंगतया अनिवार्य होनेसे सहज सम्भव है कि पुष्टिमार्गीय भक्तिके अनुसरणार्थ रामानुज मतमें इदमित्थतया अंगीकृत न होनेपर भी उसे अपना लिया गया हो। तथा रामानुजमतीय विशिष्टाद्वैतसे वह असंगत न हो जाये एतदर्थ पुरुषोत्तमसे उसे अत्यन्त भिन्न तथा शरीररूप भी मान लिया गया हो। यों रामानुज वेदान्त तथा वाल्लभ वेदान्त का एक अद्भुत समन्वय यहां करनेका प्रयास जो प्रकट होता वह अवश्य भारतीय दर्शनशास्त्रके इतिहासमें एक उल्लेखनीय अध्यायको जोड़ा गया माना जाना चाहिये। फिर भी श्रीजी महाराजके वचनोंके प्रामाण्य और आन्तरिकसंगतिकी समस्याका समाधान क्या?

(८. समाधानोपायकी सम्भावित रूपरेखा)

इस दिशामें कुछ संशोधन तथा समाधान प्राप्त हों तदर्थ “मद्रूपमिति मद्वाणी मान्या इयं परमादारात्” उनकी आज्ञाको शिरोधार्य करे बिना कोई उपाय समाधानकारी प्रतीत नहीं होता। क्योंकि अधुनाविकसित श्रीस्वामिनारायणीय मतमें न तो श्रीवेदान्तदेशिकोल्लिखित तत्त्वविभाजनको किसी तरहकी सैद्धान्तिक मान्यता दी जाती है और न निजाचार्यकण्ठोक्त रामानुजीयविशिष्टाद्वैतवादको ही आधुनिक श्रीस्वामिनारायणीय मतके विद्वान यथावत् स्वीकारने उद्यत हैं। कभी ‘विशिष्टविशिष्टाद्वैतवाद’ तो कभी ‘नव्यविशिष्टाद्वैतवाद’ कह कर रामानुजीय विचाररितिसे अपने-आपको पृथक्तया प्रस्थापित करनेका ही प्रयास अधिक मुखरित होता पाया जाता है। एतावता यह सिद्ध होता है कि रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवादमें भी अब एतन्मतानुयायिओंको कोई गहरी विप्रतिपत्ति कहीं-कुछ खटकती होगी। वैसे यह तो, कहना पड़ेगा कि, निजाचार्यके आदेशके प्रति अनादर प्रकट किया जा रहा झलकता है

इमामेव ततो नित्यमनुसृत्य ममाश्रितैः।

यतात्मभिः वर्तितव्यं नतु स्वैरं कदाचन॥

नेत्थं य आचरिष्यन्ति तेत्वस्मत्सम्प्रदायतः।

बहिर्भूता इति ज्ञेयं स्त्रीपुंसैः साम्प्रदायिकैः॥

शिक्षापत्र्याः प्रतिदिनं पाठोऽस्या मदुपाश्रितैः।

कर्तव्योऽनक्षरज्ञैस्तु श्रवणं कार्यमादरात्॥

वक्त्रभावेतु पूजैव कार्याऽस्याः प्रतिवासरम्।

मद्रूपमिति मद्वाणी मान्वेयं परमादरात्।।

(शिक्षापत्री : २०५-२०९).

इस ऐसी आज्ञाके कारण इस दिव्यग्रन्थका अनतिसाधारण महत्त्व सिद्ध तो होता ही है. फिरभी रामानुजीय वेदान्तसे निजपार्थक्यपर भार देनेको स्वाभाविकतया वचनामृतोंका अधिकावलम्बन आधुनिक अनुगामिओंके लिये जो अपरिहार्य बना है उस सन्दर्भमें अब प्रामाण्यतारतम्य जिज्ञास्य बन जाता है. क्योंकि वचनामृत तथा शिक्षापत्री के बीच जहां एकरूपता न झलकती हो वहां समप्रामाण्यवश दोनों ग्रन्थोंका विकल्पेन आश्रयण करना अथवा तरतमप्रामाण्यवश? यदि तारतम्यवश तो किसके आधारपर किसका व्याख्यान करना?

क्या बौद्ध धर्ममें जैसे आरुरुक्षुके अपरपर्यायरूप विनेयजन तथा आरुरुक्षुके अपरपर्यायरूप विनीतजन के अधिकारिताभेदके वश दृष्टिभेदका उपदेश दिया गया, ऐसे ही व्याख्यानीति यहां भी अपनाती? अथवा जैनोंने जैसे विकलादेश तथा सकलादेश की भेदकल्पनाके द्वारा सप्तविध नय और प्रमाण के बीच आपेक्षिक भेद तथा अभेद की स्वीकृतिरूप सकलनयसमाहारके द्वारा उपदेशसामञ्जस्य बैठाया है, तद्वत् यहां श्रीजीमहाराजके दोनों ग्रन्थोंमें सामञ्जस्य खोजना? अथवा वाल्लभ सम्प्रदायमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके हस्ताक्षरोंमें उपलब्ध होती श्रीविष्णुस्वामिमतानुगामिता और भगवदाज्ञप्त पुष्टिभक्तिसम्प्रदायकी स्वतन्त्रताके बारेमें जैसे भाष्यरश्मिकार श्रीगोपेश्वरजीने महाप्रभु-विरचित षोडशग्रन्थोंमें 'निर्गुणमत, भागवतसुबोधिनीमें 'आधिदैविकमत, ब्रह्मसूत्रभाष्यमें 'आध्यात्मिकमत; तथा तत्त्वार्थदीपनिबन्धमें 'आधिभौतिकमत ऐसे चतुर्विध मतोंकी कल्पना करके कथञ्चित् सामञ्जस्य बैठाना चाहा था. ऐसे ही श्रीजीमहाराजको भी क्या रामानुजीय वेदान्त केवल आध्यात्मिक मततया ही अभिमत था? अर्थात् शिक्षापत्री में उन्हें जो मत मान्य है वह आध्यात्मिक मतका उपदेश है और वचनामृत में क्या उन्हें आधिदैविकतया मान्य किसी मतका उपदेश है? अथवा महाप्रभुके उभयविध हस्ताक्षरोंसे सिद्ध उनकी उभयमतानुगामिताके बारेमें स्वयं जो मुझे उचित प्रतीत होता है कि एक उनकी परम्पराप्राप्त दृष्टि थी और दूसरी उनकी स्वतन्त्रदृष्टि थी. इनमें पार्थक्य होनेपर भी विरोधाभास न होनेसे उभयदृष्टियोंको यथायथ स्वीकारा

गया है. ऐसी ही कल्पना श्रीजीमहाराजकी मान्यताके बारेमें भी करनी? अथवा एकमें कर्तव्योपदेशकी प्रधानता है और दूसरेमें तत्त्वोपदेशकी इस तरह पूर्वोत्तरमीमांसान्याय क्या यहां अनुसरणीय है? अथवा आधुनिक पाश्चात्य आदर्शके अनुगामी चिन्तकोंके जैसी कालक्रमवश विचारपरिवर्तनकी कल्पनाद्वारा यहां सामञ्जस्य बैठाना? इन विविध सम्भावनाओंके बीच जो कुछ भी स्वसम्प्रदायदृष्ट्या उचित हो उसे निर्धारित करना श्रीस्वामिनारायणीय विद्वानोंका मुझे अवश्यानुष्ठेय कर्तव्य लगता है. क्योंकि क्या कारण है कि रामानुजमतीय तत्त्वविभाग इस मतमें अधुना स्वीकारा नहीं जाता है? क्यों उसके स्थानपर परब्रह्म अक्षरब्रह्म ईश्वर जीव और माया रूपी पंचधा तत्त्वविभाग, जो वचनामृतोंमें उपलब्ध होता है उसीपर भार दिया जा रहा है? क्यों इन पंचविध तत्त्वोंका कोई भी स्पष्ट संकेत शिक्षापत्रीमें नहीं मिलता? इन तत्त्वोंके अंगीकारवश उपनिषद् ब्रह्मसूत्र या भगवद्गीता के वचनोंमें श्रीरामानुजभाष्योक्त अभिप्रायके विरुद्ध अर्थ तो स्वीकारना पड़ेगा. तब या तो रामानुजभाष्योक्त अर्थको अप्रमाण या फिर इन तत्त्वपञ्चककी कल्पनाको अप्रमाण मानना पड़ेगा. यों उभयतःपाशमें बुद्धि जकड़ जाती है. जो बात इन सबके अवलोकन करनेपर दुर्बोध लगती है, वह यही कि जिस तरहसे रामानुजमतके बारेमें अपनी निरुपाधिक स्वीकृति शिक्षापत्री में प्रकट होती है उसे शनैः-शनैः वचनामृतोंमें क्यों शिथिल होती हुयी तथा परवर्ती विद्वानोंमें सर्वथा गौण ही नहीं प्रत्युत दोषोद्भावन पर्यन्त अनुपादेय बनायी जा रही है क्यों परवर्ती लेखक अपने मतका रामानुजमतसे पार्थक्यको सिद्ध करनेमें अतीव आग्रहिल पाये जाते हैं? एतदर्थ निश्चय ही प्रामाण्यमीमांसा अब इस सन्दर्भमें अतीव प्रासंगिक मुझे प्रतीत होती है.

(९.उपसंहार)

तकलीफ इस बारेमें मुझे और कुछ भी नहीं सिवाय इसके कि स्वयं श्रीजी महाराजके वचनोंमें परस्पर समन्वय कैसे साधना यही प्रक्रिया मुझे न केवल परेशान करती है परन्तु अपनी विनम्र जिज्ञासाको मुखरित करने भी उकसाती है. इति शम्.



॥श्रीकृष्णाय नमः॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

श्रीस्वामिनारायणीय दर्शनसिद्धान्त और भक्तिसाधना
की
विकसनप्रक्रिया(२)

(साधु श्रीश्रुतिप्रकाशदासजीके समाधानात्मक आलेखपत्रकी समीक्षा)

श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा॥
सर्वभक्तसमुद्गारे विस्फुरन्तं परं नुमः॥११॥
“स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः॥
उपास्यः इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम्”॥२॥
पुरुषोत्तमोऽयं गीतोक्तः सहजानन्देष्टदेवता॥
परब्रह्मतया सोऽयं श्रुतिसूत्रप्रमाणकः॥३॥
सर्वमान्येषु शास्त्रेषु यत्तु नैवोपलभ्यते॥
श्रुतिप्रकाशदासीयं ब्रह्म तत् परमं कुतः?॥
ततः स्वगोष्ठिसिद्धं तत् शिष्यश्रद्धातिरेकतः॥४॥
न मतञ्चापि तत् तत्र सहजानन्दस्वामिनाम्॥
किञ्च सर्वैर्हि स्वगुरुः परब्रह्मतयादृतः॥५॥
स्वगुरुक्तं परन्त्वेतैः चित्रं खल्वधरीकृतम्॥
शास्त्रानुक्तं प्रमेयं चेत् परतत्त्वेन रूप्यते॥६॥
बाह्यत्वापादकं तत्स्याद् वेदान्तकपटोऽथवा॥
अस्वीकार्यस्तु सोऽयं हि गुरुक्तानादरो भृशम्॥७॥
तस्मात्सम्प्रति चैतेषां गुरोर्वाक्यविचारणात्॥
श्रुतिप्रकाशदासोक्तं साधूक्तं नावधार्यते॥८॥

(१.उपक्रम)

मेरी यह सुदृढ़ धारणा है कि श्रीसहजानन्द स्वामीजी रामानुजवेदान्त और वाल्लभवेदान्त के समन्वय द्वारा निश्चय ही एक विलक्षण और नूतन वेदान्तप्रक्रिया प्रवर्तित करना चाहते होंगे; और, इसी तरह वैष्णवी एकान्तभक्ति तथा स्मार्त पञ्चदेवोपासना के भी अतीव अनूठे संश्लेषण द्वारा एक नूतन धर्मसाधनाकी प्रणालीका भी सूत्रपात वे करना चाहते होंगे. यों उभयवेदान्तोंका एक विलक्षण समन्वित रूप ही इस उनके मतकी अपूर्वता दर्शनेतिहासमें नूतन प्रदान सिद्ध करनेका पर्याप्त था फिरभी रामानुज वाल्लभ तथा स्मार्त सम्प्रदायोंके तत्कालीन अनुगामिओंकी इस नूतनसम्प्रदायके प्रति असहिष्णुताके वश; तथा स्वयं स्वामिनारायण सम्प्रदायके अनुगामिओंमें भी पनपी प्रतिक्रियावादी मानसिकताके वश भी, स्वयंको अलग-थलग सिद्ध करनेकी दुर्दम महत्त्वाकांक्षाने वर्तमानमें इस सम्प्रदायकी दार्शनिक तथा धार्मिक धारणाओंका जो स्वरूप गढ़ा और बहुप्रचारित किया, वह स्वयं उनके श्रद्धाशील अनुगामिओंको स्वयं निजगुरुके कण्ठोक्त उपदेशोंसे अतीव दूर कहीं भटका देनेका एक विपरीत कार्य लगता है

अपने इस अभिप्रायको प्रकट या प्रचारित करनेका न तो मेरे भीतर कोई निजसाम्प्रदायिक उत्साहातिरेक है और न वैसा परसम्प्रदायविद्वेष ही. क्योंकि श्रीसहजानन्द स्वामीजीने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण और गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण की प्रशंसामें-

सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्यनन्दनः।

श्रीविट्ठलेशः कृतवान् यं व्रतोत्सवनिर्णयम्॥

कार्यास् तम् अनुसृत्यैव सर्वेव व्रतोत्सवाः।

सेवारीतिश्च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि॥

(शिक्षापत्री : ८१-८२).

ऐसे सौहार्दपूर्ण उदारभाव जो प्रकट किये हैं, उनके ऐसे भावोंके विपरीत कृतघ्नतापूर्ण सुहृद्द्वेष करना प्रस्तुत आलेखपत्रके लेखकको दुःस्वप्नमें भी आचरणीय कृत्य नहीं लग सकता है. अतएव यह सविशेष उल्लेखनीय हो जाता है कि अपने

अनुगामी जन निरर्थक ही अन्यसम्प्रदायसे कहीं प्रभावित न हो जायें, ऐसी भीति रखनेवाले सम्प्रदायप्रवर्तक अनेक धर्मोपदेशकोंसे विसदृश श्रीसहजानन्द स्वामीजीके जैसी निश्छल दार्शनिक तथा धार्मिक आत्मस्वीकृति सहसा उपलब्ध हो नहीं पाती

इस देशके विभिन्न वैदिक सम्प्रदायोंके प्रवर्तक न केवल स्वयंको मान्य अपितु बहुमान्य शास्त्रोंके ही आधारपर अपनी धारणाओंकी सम्पुष्टि करते हैं. उनकी जो भी आत्मस्वीकृत धारणायें हों उनके कारण इन शास्त्रोंकी जिस पूर्वसिद्ध व्याख्यापरम्पराके साथ वे जुड़े होते हैं, उस व्याख्यापरम्परासे विरुद्ध जानेवाली परम्पराओंकी धारणाओंका भी कई बार निज धारणाके साथ समन्वय साधते हैं, यदि उन्हें निजविवेकवश वह सत्य और उचित लगता हो तो. भारतीय धर्म और दर्शन के इतिहासमें ऐसा कई बार घटित हुवा दिखलायी देता ही है.

इसे अपनी जनग्राह्यता प्राप्त करनेका छद्म मानना बहुधा साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहवाली मानसिकता भी हो सकती है. अतएव श्रीसहजानन्द स्वामीजी या उनके सम्प्रदाय के प्रति किसी तरहके साम्प्रदायिक विद्वेष या सुहृद्दोह के रूपमें इस समीक्षाको देखनेके बजाय उनके प्रति विनम्र कृतज्ञताके प्रकाशनके रूपमें ही इसे लिया जाना चाहिये. प्रस्तुत आलेखनके आरम्भमें ही यह स्पष्टीकरण दे देना मुझे मेरा कर्तव्य लगता है.

विशेषमें इसलिये भी यह अपेक्षित लगता है क्योंकि स्वयं समादरणीय श्रीमान् ज. आ. याज्ञिक महोदयके साक्षात् मौखिक अत्याग्रहवश कि स्वामिनारायणसम्प्रदायके दर्शन और साधना के बारेमें, तब अहमदाबादमें आयोजित होनेवाली संगोष्ठीमें, मुझे ही आलेखपत्र प्रस्तुत करना चाहिये. सो वृद्धपुरुषके आग्रहका अनादर न करनी भावनावश ही मैंने आलेखपत्र प्रस्तुत करना चाहा था. अन्यान्य विद्वानोंके समक्ष तब उन्होंने यह भी कहा कि “गो.श्या.म. यदि हमारी आलोचना भी करेंगे तो भी हम उनके आलेखपत्रको पढ़नेको उत्कण्ठित हैं” अतएव मैंने अपनी समझके अनुसार कुछ प्रश्न समाधानार्थ प्रस्तुत करने चाहे. बादमें अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जिसके तत्त्वाधानमें वह संगोष्ठी होने जा रही थी उसके पदाधिकारी आदरणीय श्रीयुत श्रीप्रकाश दुबेजीने अपने पत्र (दि.१२।१०।०४) द्वारा मुझे यह सूचना भेजी :

“स्वामिनारायण सेश्वर वेदान्तका आपका व्याख्यान अहमदाबाद भेजा गया था, व्यवस्थाके अन्तर्गत. वहां इसे पढ़नेके उपरान्त श्रुतिप्रकाश स्वामीने बताया कि इसमें कुछ अंश ऐसे हैं जिनका वाचन वहांके मंचसे उपयुक्त नहीं होगा, परम्पराके परिप्रेक्ष्यमें कुछ संशोधन अपेक्षित है... उन्होंने कुछ संशोधन करके भेजे हैं... यदि आप इन संशोधनोंसे सहमत हों तो इन्हें यथावत् रखा जाय, वरना विवादमें न जा कर इस व्याख्यानको स्थगित करना श्रेयस्कर होगा.”(अधोरेखांकन मेरेद्वारा योजित)

(२.समीक्षारम्भ)

यों उस विचारगोष्ठीमें शुभाशयोपेत प्रश्नोंपर तथा समाधानार्थ प्रस्तुत जिज्ञासाओं पर भी प्रतिबन्ध लागू किया गया. यह तो मुझे अति विस्मयजनक ही लगा मैं समझता हूं कि सम्प्रति स्वामिनारायण सम्प्रदायके नूतन अनुगामी इन गम्भीर प्रश्नोंका समाधान न भी सोचना या खोजना चाहते हों न सोचें या न खोजें. कभी न कभी इनकी भावी पीढ़ीको भविष्यमें तो खोजने ही पड़ेंगे. क्योंकि श्रीसहजानन्द स्वामीजीकी-

“इति संक्षेपतो धर्माः सर्वेषां लिखिताः मया, साम्प्रदायिकग्रन्थेभ्यो ज्ञेयः एषान्तु विस्तरः. सच्छास्त्राणां समुद्भूत्य सर्वेषां सारम् आत्मना, पत्री इयं लिखिता नृणाम् अभीष्टफलदायिनी. इमामेव ततो नित्यम् अनुसृत्य मम आश्रितैः यतात्मभिः वर्तितव्यं नतु स्वैरं कदाचन. वर्तिष्यन्ते य इत्थं हि...सिद्धिं प्राप्स्यन्ति निश्चितम्. न इत्थं ये आचरिष्यन्ति तेतु अस्मत्सम्प्रदायतः बहिर्भूताः इति ज्ञेयं स्त्रीपुंसैः साम्प्रदायिकैः. शिक्षापत्र्याः प्रतिदिनं पाठो अस्याः मदुपाश्रितैः कर्तव्यो, अनक्षरैस्तु श्रवणं कार्यम् आदरात्. वक्त्रभावेतु पूजैव कार्या अस्याः प्रतिवासरं, मद् रूपम् इति मद्वाणी मान्या इयं परमादरात्”.(शिक्षापत्री : २०३-).

इन निजकण्ठोक्त विधि-निषेधों और उनके अनुसरण या अननुसरण की उभयविध फलश्रुतिओंकी अर्थापत्तिका विचार यदि किया नहीं गया तो भारतके एक दिव्य पुरुषके साथ निरर्थक ही अक्षम्य अन्याय हो जायेगा. क्योंकि परम्पराकी दुहाई दे कर संमान्य साधु श्रुतिप्रकाशदासजी मेरे आलेखपत्रमें जैसे संशोधनार्थ मुझे प्रेरित करना चाहते हैं, वह तो सर्वथा उपपत्तिविहीन होनेसे अस्वीकार्य ही लगता है. स्वयं उनके शब्दोंमें देखना हो तो-

(१)“शास्त्र-निरीक्षणमें बलाबलन्याय सभी दर्शनोंमें स्वीकृत है... एक ही दर्शनका समस्त शास्त्रसमूह एक ही अर्थ कहता हो तो, कभी परस्पर विरोधाभास न हो तो, यह पूर्वोक्त बलाबलनिर्णय और तात्पर्यनिर्णय का प्रयास ही निरर्थक बनेगा... सम्प्रदायकी विस्तृति और प्रवृत्ति में दो प्रकार सभी सांप्रदायिक दर्शनोंमें पाये जाते हैं... १.सम्प्रदायके विकासकेलिए अपने सम्प्रदायके पूर्ववर्ती सम्प्रदायोंके आश्रित मुमुक्षुओंकी भी रुचि उत्पन्न हो, इसलिए उनकी आस्थाको धीरेसे मोड़नेकेलिए पूर्ववर्ती सम्प्रदायों सिद्धान्तों के साथ समानता रखनेवाले प्राथमिक ग्रन्थोंकी रचना होती है... अन्यथा प्रथमसे ही इस सम्प्रदायसे अपना मुंह मोड़ लेता है. इस प्रकारके शास्त्रोंको ‘सदस्यग्रन्थ’ अथवा ‘साधारणग्रन्थ’ कहते हैं. २.सम्प्रदायमें अनुरक्त मुमुक्षुविशेषकेलिए जब सम्प्रदायके रहस्यवेत्ता, मतप्रवर्तकके साथ साक्षात् समागम करनेवाले, प्रधान शिष्योंसे मिलता है. अथवा ऐसे प्रधान शिष्योंके ग्रन्थोंको अनुभवी साम्प्रदायिक विद्वानोंसे पढ़ता है तब... इस प्रकारके ग्रन्थ प्राथमिक समागत मुमुक्षुकेलिए अनुपादेय बनते हैं. क्योंकि वे मुमुक्षुके सामर्थ्यसे अधिक गम्भीर होते हैं. ऐसे ग्रन्थोंको ‘रहस्यग्रन्थ’ कहते हैं. (मेरे आलेखपत्रके समाधानार्थ भेजे गये पत्रमें खण्ड : ४.१).

(२)शिक्षापत्रीमें लिखित जनसाधारणता अर्थात् सदस्यता ग्रन्थान्तर्गत विषयोंसे जान सकते हैं. यहां रामानुजीय तत्त्वत्रयका निरूपण, शंकरमताभिप्रेत पञ्चदेवपूजाकी मान्यता, वल्लभाचार्यप्रोक्त उत्सवविधानका स्वीकार,

निम्बार्काचार्यस्वीकृत गोलोकधामकी अभिमति, शैवसम्प्रदायके साथ संवादिताकेलिए शिवमन्दिरदर्शन और शिवपूजा का विशिष्ट विधान इत्यादि रामानुज-निम्बार्क वगैरह पूर्वसम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंके समन्वयका हेतु समाजमेंके सभी सम्प्रदायोंके प्रति आदरभाव है. कोई एक ही सम्प्रदाय अपना सिद्धान्त नहीं है. हमारा रहस्यगत सिद्धान्त तो भिन्न है यही दिखाई पड़ता है. (तत्रैव : ४.२).

(३)“यत्परः स शब्दार्थः” इस न्यायसे जिस ग्रन्थका जो प्रधान विषय हो उसमें उसी विषयका प्राबल्य उस ग्रन्थसे निकालना चाहिये नकि विषयान्तरको. शिक्षापत्री धर्म अर्थात् सदाचारविषयक ग्रन्थ है ऐसा, ग्रन्थके आदिमें अन्तमें और मध्यमें बार-बार कहा है... इस प्रकार सदाचारवर्णनप्रधान इस ग्रन्थमें और तत्त्वज्ञानवर्णनप्रधान वचनमृत के बीच कोई बीजांकुरसम्बन्ध नहीं है. दोनोंका विषय ही भिन्न है. दोनोंके लेखनसमयमें भेद है... इन दोनोंमें तात्त्विक सन्दर्भकेलिए वचनमृतका ही उपयोग करना चाहिये, बजाय शिक्षापत्रीके.(तत्रैव : ४.२).

मैंने स्वयं भी अपने मूल आलेखपत्रके ८वें खण्डमें एकाधिक समाधानोपायकी सम्भावित रूपरेखा प्रस्तावित की ही थी. उसमें सर्वप्रथम समप्रामाण्य और तरतमप्रामाण्य का विकल्प प्रस्तुत किया था. द्वितीय तरतमप्रामाण्यके अन्तर्गत आरूक्षु और आरूढ अधिकारियोंके भेदके जैसी त्रिविध प्रक्रिया प्रस्तावित की थी. श्रीश्रुतिप्रकाशदासजी इनमें तरतमप्रामाण्यके कल्पके अन्तर्गत विषयभेद और अधिकारभेद के आधारपर शिक्षापत्री और वचनमृत ग्रन्थोंमें प्रकट होते विरोधाभासको अनमनेसे समाहित करना चाहते हैं. यह उपर्युद्धत उनके वचनोंके अवलोकनसे आभासित होता ही है. साथ ही साथ इसे केवल विरोधाभासके रूपमें ही दरसाना चाहते हैं पारस्परिक विरोधके रूपमें स्वीकारना नहीं चाहते. वैसे मेरेद्वारा प्रस्तावित विरोधाभासके निराकरणोपायतया दोनों ग्रन्थोंमें बीजांकुरभावका यहां निषेध करनेके बावजूद अपने प्रत्युत्तरके उपक्रममें साम्प्रदायिक सिद्धान्तविकासमें बीजांकुरभाव भी स्वीकार कर चले हैं. यथा “सम्प्रदाय सहसा वृक्षरूप नहीं बनता... इस अंकुरित अवस्थाका चित्र और विशालकाय अवस्थाके

चित्रको देख कर कभी-कभी दोनोंमें विरोध दिखाई पड़ता है... विरोध और विरोधाभास को जाननेका तरीका यह है कि १.सम्प्रदायप्रवर्तकके सभी विचारोंका सामूहिक चिन्तन २.सम्प्रदायप्रवर्तककी गुरुपरम्पराके विचारोंका चिन्तन ३.समकालीन अथवा शिष्यसमूह जिन्होंने साक्षात् अपने सम्प्रदायप्रवर्तकको सुना, अनुभव किया हो ऐसे विद्वानोंके ग्रन्थोंका आकलन और चिन्तन.” (तत्रैव : १.उपक्रम). अतः सर्वप्रथम तो यह मुझे कथनीय लगता है उल्लिखित दोनों ग्रन्थोंमें जब विरोध ही न हो तो प्रामाण्यमें तारतम्य क्यों स्वीकारना चाहिये? दोनों ग्रन्थोंका समप्रामाण्य उपपादित करना ही उचित होता. परन्तु यह एक कटुतर वास्तविकता है कि स्वामिनारायणपन्थके आधुनिक अनुगामिओंको अब शिक्षापत्रीकी शब्दावली, अपनी वैचारिक धारणाके वश पर्याप्त प्रतिकूल दिखलाई पड़ती है. इस विषयको आगे चल कर अधिक स्फुट किया जायेगा. अस्तु.

साधु श्रुतिप्रकाशदासजी (इतःपर ‘सा.श्रु.जी’ नामसंक्षेपेण उल्लेख्य) के ऊपर दिये तीन उद्धरणोंमें चार-पांच धारणायें उभर कर सामने आती हैं : शिक्षापत्री साधारणग्रन्थ है जबकि वचनामृत रहस्यग्रन्थ है. शिक्षापत्री अन्यान्य सम्प्रदायके अनुयायिजनोंको अपना शिष्य बन जानेको ललचानेके हेतु दिया गया उपदेश है जबकि वचनामृत अपने शिष्योंको शुद्धभावसे दिया गया उपदेश है. शिक्षापत्री स्वहस्तारालेखित होनेपर भी तत्त्वविचारार्थ अनुपयोगी सदाचारपरक ग्रन्थ है जबकि वचनामृत श्रीसहजानन्दजीके अनन्य भक्तोंद्वारा आलेखित अपने गुरुके तत्त्वविचारोंका प्रतिपादक ग्रन्थ है. शिक्षापत्रीमें उल्लिखित प्रयोजनवश तत्कालमें प्रचलित अन्यान्य सम्प्रदायोंके प्रति केवल अविरोधात्मक आदरभाव दिखानेके हेतु दिया गया उपदेश है जबकि वचनामृत अपने अन्तरंग भक्तोंके बीच ऐसे प्रयोजनसे रहित स्वमतके उपदेशोंका संकलन है.

१.अनुपपत्ति :

उपर्युद्धृत श्रीसहजानन्दजीके वचनोंमें अधोरेखांकित अंशोंका थोड़ीसी सावधानीके साथ अवलोकन करनेपर ये समाधान कुशकाशावलम्बन या अकाण्डताण्डव ही लगते हैं : ‘सर्वेषां, सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य सर्वेषां सारम् आत्मना, पत्री इयं लिखिता,

‘इमामेव ततो नित्यम् अनुसृत्य मम आश्रितैः यतात्मभिः वर्तितव्यं नतु स्वैरं कदाचन, न इत्थं ये आचरिष्यन्ति तेतु अस्मत्सम्प्रदायतः बहिर्भूताः इति ज्ञेयं, ‘मद्वारूपम् इति मद्वाणी मान्या इयं परमादरात्’.

स्पष्ट है कि श्रीसहजानन्द स्वामीके अनुसार शिक्षापत्री निज पन्थमें आरुरुक्षु और आरुरुद दोनोंकेलिए अर्थात् सभीकेलिए लिखी गयी है. यहां “उद्दिधीर्षितव्यानां प्राथमिकानां” पदप्रयोगके बजाय ‘सर्वेषां’ पदका प्रयोग यही सिद्ध करता है. साथ ही साथ यह शिक्षापत्री श्रीसहजानन्द स्वामीने तत्त्वरूप और धर्मरूप उभयवस्तुके प्रतिपादक सच्छास्त्रोंके निजाभिमत सारका स्वयं आत्मकृत समुद्धरण है. यह शिक्षापत्री इन्हीं सच्छास्त्रोंपर अवलम्बित होनेवाले इतर व्याख्यातृसम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंके प्रति केवल समादरभाव प्रकट करनेवाली सूक्तियोंका संकलन नहीं. श्रीसहजानन्द स्वामीपर आश्रित उनके सम्प्रदायके साधारण और रहस्यवेत्ता सभीकेलिए यही शिक्षापत्री नित्य श्रोतव्य मन्तव्य निदिध्यासितव्य उपदेश है नकि रहस्यबोधके बाद उपेक्ष्य या अननुसरणीय उपदेश. इस शिक्षापत्रीमें उपदिष्ट कर्तव्योंके विपरीत आचरण करनेवालेको निजसम्प्रदायसे बहिर्भूत माननेका स्पष्ट विधान यहां किया गया है. अन्तमें ‘अन्य वचनामृत आदि तथाकथित रहस्यग्रन्थ चाहे श्रीसहजानन्दजीकी शाब्दिक काया हों या न हो पर इसे अपनी शब्दमयी कायाके रूपमें ही परमादरास्पद दिखलाना वे चाहते हैं. अतः इसके बारेमें गौणप्रामाण्य होनेका दुराशय स्वयं निजाचार्यके वचनों और व्यक्तित्व के प्रामाण्यके अवमूल्यनमें ही पर्यवसित होगा.

२.अनुपपत्ति :

शिक्षापत्रीमें तत्कालीन अन्यान्य सम्प्रदायोंके अनुगामिओंको निजाभिमुख बनानेके हेतु, उन सम्प्रदायके सिद्धान्तोंके प्रति दरसाया गया आदरभाव, सदसद् शुभाशुभ या श्रेयस्कराश्रेयस्कर के बारेमें उपदेशकर्ताके स्वयं निजी विवेक और विश्वास के अनुसार मान्य था अथवा केवल अन्यसम्प्रदायानुगामिओंके प्ररोचनार्थ या प्रतारणार्थ ही? यदि प्रथम कल्प मान्य रख कर चलें तो शिक्षापत्रीको

इतरसम्प्रदायके सिद्धान्तोंका संकलन मानना असंगत हो जायेगा. क्योंकि अन्यथा मांसभक्षण मद्यपान व्यभिचार स्तेनकर्म द्यूतक्रीडा परनिन्दा सदृश निषिद्धाचरण श्रीस्वामीने जैन-बौद्धोंके मतोंके संकलनार्थ यहां योजित किये ऐसा भी मानना पड़ेगा. क्योंकि ये उनके यहां भी निषिद्धाचरणतया वर्णित हैं. यदि इन्हें वहांसे लिये नहीं मानते तो तत्त्वत्रयनिरूपण, पञ्चदेवपूजा, उत्सवविधान, गोलोकधाम या शिवमन्दिरदर्शन रामानुज शांकर वाल्लभ नैम्बार्क या शैव मतोंके संकलनार्थ या समादरणार्थ न हो कर निजाभिप्रेत ही स्वीकारने पड़ेंगे, निजाचार्यद्वारा सर्व आप्तजनमान्य तत्त्वप्रतिपादक एवं सदाचारप्रतिपादक शास्त्रोंको अभिप्रेत पदार्थके रूपमें अभिमत होनेसे ही. द्वितीय कल्पमें तो जैसाकि श्रीधर्मकीर्ति और श्रीकर्णगोमी कहते हैं “आगमभ्रंशकारिणां आहोपुरुषिकया तद्दर्शनविद्वेषेण तत्प्रतिपन्नखलीकरणाय धूर्तव्यसनेन अन्यतो वा कुतश्चित् कारणात् अन्यथारचनसम्भवात्.”-“यथा महायानविद्विष्टानां महायानप्रतिपन्नखलीकरणाय महायानप्रतिरूपकसूत्रान्तररचनं तत्प्रतिपन्नखलीकरणाय...व्यसनम् इदं धूर्तानां यत् परः खलीकर्तव्यः” (प्रमा.वार्ति.३।३३२) वैसा ही कुछ आरोप श्रीसहजानन्दजी स्वामीजीपर भी लगने लगेगा मुझे तो यह सर्वथा आपत्तिजनक लगता है. अतः शिक्षापत्रीगत उपदिष्ट वचनोंमें आधुनिक अनुगामिओंकी श्रद्धाका हास इसमें प्रमुख हेतु लगता है. मूल उपदेशकके चरित्र या गुणों में अकारण ऐसी दुर्दम शिष्येषणाकी निम्नस्तरीयता खोज निकालना अच्छी बात नहीं होती !

३. अनुपपत्ति :

क्योंकि ऐसी धारणाओंको बहुप्रचारित करनेपर तो इस पन्थको विश्वके अन्यान्य भूभागोंसे कल अधिक अनुगामी जनता मिल जानेपर “श्रुत्यादि आर्ष शास्त्रोंको भी केवल भारतीय जनसाधारणको आकर्षित करनेको मान्य रखा गया था”, ऐसा न कहा जायेगा उसकी क्या निश्चिति? क्योंकि तब भी यह कहा जा सकेगा इस मतको ‘वेदान्त’ भारतीय मुमुक्षुजनोंको अपनी और आकृष्ट करनेको ही कहा गया था.

हमारे तो ‘सत्संगिजीवन’ आदि ही प्रमुख रहस्यग्रन्थ हैं उपनिषद् आदि नहीं

४. अनुपपत्ति :

कल यदि वडताल या मणिनगर के पीठाधीशोंमें कोई ‘वचनानामृत’ और ‘सत्संगिजीवन’ ग्रन्थोंपर जनसाधारणके बीच प्रवचन कर, श्रीसहजानन्द स्वामीजीको पुरुषोत्तमतया अपना उपास्य बता कर, जनताको भलीभांति अपना भक्त बना लेनेके बाद रहस्यगोष्ठीमें स्वयंको श्रीसहजानन्द स्वामिरूप अवतारका भी अवतारी घोषित करने लगे तो क्या करना? ऐसोंके भी मानमोह-रहित निरपेक्ष अन्तरंग भक्त वैसी साक्षात् अनुभूतिकी शपथ भी खाने लगे तो क्या करना? क्या स्वामिनारायणपन्थमें तब उन्हें पूर्णतम पुरुषोत्तम स्वीकारा जाना उचित होगा कि नहीं? यदि हां तो श्रीसहजानन्द स्वामीजीको भी “रामकृष्णाद्यवताराणां कारणं परमेश्वरम्” (सा.श्रु.जीकृत उक्त आलेखपत्रमें मंगलाचरण) स्वीकारनेका कुछ औचित्य सिद्ध होगा. अन्यथा ऐसा कृत्य यदि स्वामिनारायण सम्प्रदायमें उचित न हो तो श्रुत्यादिप्रमाणैकगम्य वेदान्त या श्रुत्यादिसे अविरुद्ध पाञ्चरात्रादिके भी प्रमाणोंसे गम्य वैष्णव सम्प्रदाय में भी श्रीसहजानन्द स्वामीजीकी भी सकलावतारावतारिता अनुचित ही कहलायेगी. उदाहरणतया मान लो कि सोखड़ावाले स्वामीजी यदि जनोपयोगी बड़े-बड़े आयोजनोंमें विशाल जनमेदनीके समक्ष स्वयंको श्रीयोगीजी महाराजके एकान्ती भक्त तथा वास्तविक उत्तराधिकारी होनेका दावा करने लगे तो क्या बोचासणवासी अक्षरपुरुषोत्तम संस्थाको वह मान्य हो पायेगा?

५. अनुपपत्ति :

दिनानुदिन विश्वव्यापी होती इस संस्थामें कोई ईसाई या मुसल्मान अन्तःप्रविष्ट हो कर, सदस्यग्रन्थके रूपमें सत्संगिजीवनादि साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका पारायण-प्रवचन करे और अपने अन्तरंग श्रोताओंको यह समझाना शुरू करे कि श्रीसहजानन्द स्वामीजी स्वयं ईसा मसीह या महम्मद पयगम्बर के अवतार थे और ऐसी दिव्य रहस्यानुभूति भी

अपने अन्तरंगजनोंको प्रदान करें तो क्या उसे स्वामिनारायण सम्प्रदायमें मान्य करनी कि नहीं? जो यहां समाधान होगा वही स्वयं स्वामिनारायण सम्प्रदायपर भी लागू होगा.

तुलनीय

६. अनुपपत्ति :

साधारणग्रन्थ और रहस्यग्रन्थ की विभाजकरेखा आप्तमान्य श्रुत्यादिशास्त्रोंमें निरूपित तत्त्वव्यवस्था और धर्मव्यवस्था से भिन्न तो नहीं हो सकती. “यत्परः स शब्दार्थः” न्यायेन इन श्रुत्यादि शास्त्रोंके तात्पर्यविषयतया सर्वथा अकल्पनीय “**रामकृष्णाद्यवताराणां कारणं परमेश्वरम्**” (पूर्वल्लिखित) रहस्यकी भी यही गति दिखलायी देती है. वैसे इसके अलावा और क्या रहस्य स्वामिनारायणीय सिद्धान्तका हो सकता है? अतः यह रहस्य यदि इन आप्तजनमान्य श्रुत्यादि शास्त्रोंका तात्पर्यगोचर हों तो उन्हीं ग्रन्थोंके व्याख्यानद्वारा स्वामिनारायणीय रहस्यकी स्वीकार्यता प्रतिपादित करनी चाहिये थी. फिर सत्संगिजीवन या श्रीहरिलीलामृत सदृश अत्यन्त साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके आधारपर नहीं. अन्यथा इस पन्थको वेदान्त या वैष्णवधर्म मानने के बजाय वेदादिशास्त्रबाह्य सिद्धान्त और अवैष्णव धर्म ही मानना चाहिये, यदि इनके आरूढ़ अनुगामिओंको लुभानेका दुर्भाव हृदयमें आरूढ़ न हो तो. वैसे सा.श्रु.जीका यह विधान कि “**इन दोनोंमें तात्त्विक सन्दर्भकेलिए वचनामृतका ही उपयोग करना चाहिये, बजाय शिक्षापत्रीके**” (पूर्वल्लिखित) यह तो एक महान् अकाण्डताण्डव ही है.

क्योंकि ऐसा कहनेपर जिज्ञास्य हो जाता है कि :

“**शारीरकाणां भगवद्गीतायाः च अवगम्यतां रामानुजाचार्यकृतं भाष्यम् आध्यात्मिकं मम. एतेषु यानि वाक्यानि श्रीकृष्णस्य (+) वृषस्य च अत्युत्कर्षपराणि स्युः... मन्तव्यानि प्रधानानि तान्येव इतरवाक्यतः. धर्मेण सहिता कृष्णभक्तिः कार्या इति तद्ग्रहः**” (शिक्षाप.१००-१०२).

“**श्रीरंगक्षेत्रमें रामानन्दस्वामीने स्वप्नमें साक्षात् रामाजाचार्यसे दीक्षा वैष्णवी दीक्षा प्राप्त की थी. इसलिये रामानन्दस्वामीके गुरु रामानुजाचार्य हैं. उन रामानुजाचार्यके हम शिष्य हैं. ऐसी गुरुपरम्परा जाननी चाहिये... क्योंकि समस्त अवतारोंको धारण करनेवाले स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ही हैं. उन श्रीकृष्ण भगवान्ने उद्भवके प्रति गुणविभागके अध्यायमें कहा है कि ‘मैं निर्गुण हूँ तथा जो मेरे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं वे भी निर्गुण हो जाते हैं’.**” (वचना.वर्ता.१८।२१८).

“**रामानुज स्वामीने जिस प्रकार क्षर-अक्षरसे परे पुरुषोत्तम भगवान्का निरूपण किया है, उन पुरुषोत्तम भगवान्की तो हम उपासना करते हैं. गोपियोंके समान उन पुरुषोत्तम भगवान्की हम भी भक्ति करते हैं... यही हमारा अभिप्राय तथा रुचि है.**” (वचना.लोया.१४।१२२)

अतः यह केवल रुचि न हो कर अभिप्राय भी है. अतः इन दोनों ग्रन्थोंकी इस विषयमें इतनी गाढ़ इतरेतरसंवादिताकी उपेक्षा भी सम्भव नहीं. इसका जब अवलोकन करते हैं तो न तो सदाचारव्यवस्था और न तत्त्वव्यवस्था में किसी तरहका विसंवाद झलकता दिखलायी देता है. अब इनके अलावा भी तीसरे-चौथे या अन्य अनेक ग्रन्थोंके वचन सामने ला कर इन दोनों ग्रन्थोंके परस्परसंवादबलसे मिलते तात्पर्यका भी अन्यथानयन करना ही हो तो वह तो स्वगोष्ठ्येक उपदेश्य धर्म या तत्त्व सम्बन्धी धारणा कहलायेगी. ‘वेदान्त’ या ‘वैष्णवधर्म’ नहीं.

(३. शिक्षापत्रीकी तात्पर्यनियामिका षडंगमीमांसा)

श्री सा.श्रु.जी कहते हैं “**शिक्षापत्री धर्म अर्थात् सदाचारविषयक ग्रन्थ है ऐसा, ग्रन्थके आदिमें अन्तमें और मध्यमें बार-बार कहा है**” (यथापूर्वल्लिखित).

कौन नहीं जानता कि शिक्षापत्रीके (उपक्रमोपसंहारी) उपक्रम और उपसंहार दोनों ही श्रीजी महाराजने श्रीकृष्णस्तुतिसे सम्पन्न किये हैं. (अभ्यास) स ग्रन्थमें निरन्तर (कमसे कम ३५ बार) 'श्रीकृष्ण' पदका पुनरावर्तन श्रीकृष्णकी ही एकान्तभक्तिके अभ्यासरूपेण किया गया है. (अपूर्वता) श्रीरामानुजार्योपदिष्ट विशिष्टाद्वैतवादके अङ्गीकारपूर्वक लक्ष्मीनारायणरूप और राधाकृष्णरूप में अभेददृष्टि रखते हुवे उपास्यरूपतया श्रीकृष्णकी भक्तिका अपूर्व उपदेश इस ग्रन्थकी विशिष्टाद्वैतवादानुसारिणी श्रीकृष्णमाहात्म्यपरकता सिद्ध करता है. अतएव "हृदये जीववद् जीवे यो अन्तर्यामितया स्थितो ज्ञेयः स्वतन्त्रः ईशो असौ सर्वकर्मफलप्रदः सः श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः उपास्यः इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम्. स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्णः इति प्रभुः, रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायणः सहि. ज्ञेयो अर्जुनेन युक्तो असौ 'नरनारायणा'भिधः बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामा उच्यते सहि" (शिक्षाप.१०७-११०) कारिकाओंमें रामानुजीय तत्त्वत्रयान्तर्गत ईश्वरको ही परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण और सर्वाविर्भावकारण कहा गया है. अतः यह ग्रन्थ केवल सदाचारपरक न हो कर स्वयंको अभिमत तत्त्वप्रतिपादक एवं धर्मप्रतिपादक सच्छास्त्रोंका साररूप उपदेशपरक ग्रन्थ है. और अतएव मीमांसकीय इस अपूर्वताके निकषपर भी इसमें उपदिष्ट तत्त्वस्वरूपका स्वार्थमें प्रामाण्य अक्षुण्ण ही सिद्ध होता है. (स्तुत्यर्थवाद) तदुपरान्त श्रीकृष्णभक्तिके उपदेशक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी 'सर्ववैष्णवराज'तया स्तुति भी इसके श्रीकृष्णमाहात्म्योपदेशपरक होनेका डिंडिमघोष है. श्री सा.श्रु.जी यहां भी लुकाछिपी खेलना चाहते होनेसे अपनी मनोवृत्तिको उजागर करते हुवे केवल "वल्लभाचार्यप्रोक्त उत्सवविधानका स्वीकार" (पूर्वोल्लिखित) की बात कर रहे हैं. वैसे शिक्षापत्रीकार अपने आधुनिक अनुगामिओंको तो बड़ी दुःस्वप्नोम आज्ञा यहां "सेवारीतिः च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि" (शिक्षाप.८२) भारपूर्वक कह रहे हैं. अतः इसका सदाचरविषयक भी केवल प्रामाण्य स्वीकारें तो पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीके विपरीत मनगढ़ंत सेवाप्रणाली प्रस्तुत करनेवाले इस सम्प्रदायके आधुनिक मन्दिनोंको असदाचरणरूप अपराधका सार्वजनिक प्रदर्शन मानना पड़ेगा किम् अतोऽधिकं चित्रम् इसी तरह (निन्दार्थवाद) "कृष्णभक्तेः स्वधर्माद् वा पतनं यस्य वाक्यतः स्यात्, तन्मुखाद् नैव श्राव्याः कथावार्ताः च वा प्रभोः... कृष्णकृष्णावताराणां खण्डनं यत्र युक्तिभिः (यथा सा.श्रु.आदीनां लेखनेषु) कृतं स्यात् तानि शास्त्राणि न मान्यानि कदाचन" (शिक्षाप.२५,२९)

वचनोंद्वारा निन्दार्थवाद भी इस ग्रन्थमें जो उपलब्ध होता है वह और श्रीकृष्णमाहात्म्यके विलोपकोंकी निन्दा भी श्रीकृष्णमाहात्म्यकी ही अकाट्यता सिद्ध करती है. यह प्रस्तुत ग्रन्थके तत्त्वोपदेशपरक होनेका प्रमाण है. अन्तमें मीमांसकीय छद्म अंग (उपपत्ति) "वेदाः च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधं पुराणं... तथा श्रीभगवद्गीता... एतानि अष्ट मम इष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि. स्वहितेच्छुभिः एतानि मच्छिष्यैः सकलैरपि श्रोतव्यानि अथ पाठ्यानि कथनीयानि च. तत्र आचारव्यवहृतिनिष्कृतानां च निर्णये ग्राह्या मिताक्षरोपेता याज्ञवल्क्यस्य तु या स्मृतिः. श्रीमद्भागवतस्य एषु स्कन्धौ दशमपञ्चमौ सर्वाधिकतया ज्ञेयौ कृष्णमाहात्म्यबुद्धये" (शिक्षाप.९३-९८) इन शब्दोंमें प्रमाणोपपत्ति भी उन्होंने स्फुट कर दी है.

अतः जिस सदाचारपरक ग्रन्थ होनेका हेतु पुरस्कृत कर श्री सा.श्रु.जी इस शिक्षापत्रीको तत्त्वार्थनिर्णयमें अनियामक दिखला रहे हैं वह तो नहीं सिद्ध हो पाता है. क्योंकि ग्रन्थकार स्वयं इन आठों सच्छास्त्रोंमें श्रीकृष्णमाहात्म्यके बोधार्थ श्रीमद्भागवतके पंचम और दशम स्कन्धोंकी सर्वातिशायी ज्ञेयताका प्रतिपादन कर रहे हैं. अतः तत्त्वव्यवस्थाके भी परिज्ञानार्थ यही सर्वसन्देहवारक शास्त्र है. इसके विपरीत अन्य ग्रन्थोंका इससे ज्येष्ठ या श्रेष्ठ प्रामाण्य स्वीकारना असदाचार असदालाप और असन्मति का प्रमाण बन जाना चाहिये. अतः उन्हें अश्राव्य असच्छास्त्र ही जानना चाहिये. यह सब स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीजीके शब्दोंसे सिद्ध हो रहा है.

(४. दृष्टान्तसन्दर्भसमीक्षा)

श्री सा.श्रु.जी "यश्चोभयोः समो दोषः परिहारश्च ययोः समः" न्यायेन एक विलक्षण युक्तिवादके प्रयोगद्वारा मेरे मूल आलेखपत्रमें उठाये गये मुद्दोंके बारेमें मेरे मुखमुद्रणार्थ समुद्यत हैं. अतएव अपने समाधानपरक आलेखपत्रमें 'दृष्टान्तसन्दर्भ'के शीर्षकके अन्तर्गत शांकर रामानुज वाल्लभ आदि सम्प्रदायोंमें भी समानरूपेण पूर्वापर धारणाओंमें अननुरूपता खोजना चाहते हैं.

मेरी अपनी समझ इस बारेमें कुछ इस तरहकी है कि परमगुरु श्रीगौडपादाचार्य तथा उनके प्रशिष्य श्रीशंकराचार्य के बीच खोजी जाती असमानता कि परमगुरुको सगुण-निर्गुण भेदवाले दो तरहके ब्रह्म मान्य नहीं थे या प्रशिष्यद्वारा प्रस्थापित

विवर्तवादके बजाय उन्हें तो अजातिवादकी धारणा ही अभिमत है. वैसे तो केवलाद्वैतवादिओंने बहुत पहले ही इसका समुचित समाधान दे रक्खा है कि **“कृपणधीः परिणामम् उदीक्षते क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्ततां स्थिरमतिः पुरुषः पुनर् ईक्षते व्यपगतद्वितीयं परमं पदम्”** (संक्षे.शारी.२।८९) जिसे देखनेपर कितने छोटेसे तिलका ताड़ बनाया जाना यहां सरलतासे समझा जा सकता है. क्योंकि प्रतिभास व्यवहार और परमार्थ में प्रभेद करनेकी प्रक्रियाके आधारपर दोनों ही प्रतिपादनशैलियोंका चरम पर्यवसान तो सर्वविध द्वैतके पारमार्थिक निषेधमें ही फलित हो जाता है.

फिरभी अनुगामिओं द्वारा गुरुवचनोंमें अनुपलब्ध ऐसी किसी धारणा या प्रक्रिया की प्रस्तुति गुरुग्रन्थोंके व्याख्यानतया अथवा अपने स्वतन्त्र ग्रन्थोंमें नियततया निजगुरुकी अभिमतिसे विपरीतमति नहीं मानी जा सकती है. **“सूत्रार्थो वर्णयते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः स्वपदानि च वर्णयन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः”** आदर्शके अनुसार इसे तो भाष्यकारका विशेषाधिकार ही माना गया है.

इसके विपरीत परन्तु **“उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते तं ग्रन्थं ‘वार्तिकं’ प्राहुः”** नीतिको अपना कर लेखनमें प्रवृत्त होनेवाले वार्तिककार बहुधा सूत्रकारके प्रति अपने हृदयमें निश्छल आदरभाव रखनेके बावजूद उन्हें परब्रह्म सर्वकारणकारणरूप सर्वज्ञ परमेश्वर भगवान् पुरुषोत्तमके रूपमें भजनेका उत्साहातिरेक या श्रद्धातिरेक प्रदर्शित नहीं करते. फिरभी भाष्यकारकी तरह ही वार्तिककार भी सूत्रग्रन्थको एक वृक्षकी तरह ही विकसित करनेकी प्रक्रिया सम्पन्न करनेवाले चिन्तक तो माने जाते हैं. जैसी प्रक्रिया द्वारा वार्तिककार सौत्री धारणाओंको पल्लवित पुष्पित या फलित करते हैं, वह सूत्रोपदिष्ट पदार्थका अपने उक्तोपपत्तिरूप सिंचन द्वारा किये गये विकासके रूपमें समादृत होता है. वैसे ही अनुक्तचिन्तनकी खाद डाल कर वार्तिककार उसे पोषित भी करते ही हैं. साथ ही साथ जहां उन्हें सूत्रोंमें प्रतिपादित पदार्थविशेषरूपी कोई शाखा समग्र सूत्रप्रतिपाद्य सिद्धान्तवृक्षके हितके विपरीत जानेवाला दूरोहण या दुरुक्त जैसा लगता है, तब उस दुरुक्तकी कलम काट कर भी वृक्षकी आयुष्यको वे वृद्धिगत करते ही हैं. कोई वार्तिककार, परन्तु, जिस भूमिपर कोई वृक्ष उगा हो उसे भूमिके माहात्म्यगान करके वृक्षोच्छेदन करता हुआ कभी देखा नहीं गया

यह तो सहज ही समझमें आनेवाली बात है कि जब किसी उद्यानके रखवालेको ऐसे किसी वृक्षके प्ररोहकी भीति सताती हो तब उस वृक्षविशेषके उच्छेदनकी भी उपयोगिताका भी उसे अधिकार होता ही है. ऐसी स्थितिमें, परन्तु, दार्ष्टान्तमें वार्तिक लिखनेके बजाय खण्डनात्मक वादग्रन्थ लिख देनेकी रीति ही अभीष्ट मानी जाती है!

स्वामिनारायणीय दार्शनिक सिद्धान्त और धर्मसाधना के औत्तरकालिक स्वरूपमें न तो भाष्यशैली अपनायी गयी दृष्टिगत होती है और न वार्तिकशैली ही. अपने सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्यको परब्रह्म पुरुषोत्तम सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ होनेके सिंहासनपर पधरा देनेके बाद जो भी उन्होंने निजकण्ठसे विधान या निषेध किये उनसे सर्वथा विपरीत ही (अनुक्त नहीं प्रत्युत निजाचार्योक्तिको दुरुक्तकी कोटिमें पदावनति कर देनेवाली) प्रक्रिया यहां अपनायी गयी हो, ऐसा स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है

रामानुजीय वेदान्त और वाल्लभ वेदान्त के बारेमें श्री सा.श्रु.जीके अवलोकनोंके बारेमें भी मैं यही बात दोहराना चाहूंगा. क्योंकि रामानुजीय सम्प्रदायकी दार्शनिक या धार्मिक धारणाओंमें पूर्वापरमें अनुक्तकी अंगीकृतिवाली अननुरूपता ही श्री सा.श्रु.जी दिखा पाये हैं. पूर्वाचार्योक्ति या पूर्वग्रन्थोक्ति को दुरुक्तमें पर्यवसित कर देनेवाली अननुरूपता वे दिखा नहीं पाये. मुझे जबकि आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्त और साधना के बारेमें सोचनेपर ऐसा लगता है कि ये मूलग्रन्थोंमें अनुक्तसे कहीं आगे बढ़ कर मूलग्रन्थोंको दुरुक्तिमें पर्यवसित करनेवाली धारणायें हैं. मुझे अतः अपनी जिज्ञासाका सन्तोषप्रद समाधान श्री सा.श्रु.जीके स्पष्टीकरण द्वारा मिल नहीं पाया.

वेदचतुष्टयीकी संहिताओंमें ‘ब्रह्म’पद तत्त्वके वाचकतया प्रयुक्त हुवा हो या नहीं; परन्तु, उन संहिताओंमें उपलब्ध होते इन्द्र या प्रजापति सदृश परमेश्वरके जैसे रूप, जैसे गुणधर्म; अथवा जैसे क्रियाकलाप निरूपित हुवे हैं, उनसे विपरीत उपनिषदोंमें ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं हुवा है. क्योंकि **“इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः”** (ऋक्संहि.२।३।२२।४६) किसी एकमेवाद्वितीय तत्त्वका

संकेत संहितामें मिल ही रहा है. अतएव निरुक्तकार भी कहते हैं “महाभाग्याद् देवतायाः एकः आत्मा बहुधा स्तूयते. एकस्य आत्मनो अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति. अपिच सत्त्वानां प्रकृतिभूमिभिः ऋषयः स्तुवन्ति इति आहुः. प्रकृतिसार्वनाम्न्यात् च” (निरु.निघ.७।४।५). इसी कारणसे सर्वदेवोंके तथा नाम-रूप-कर्मभेदसे प्रकट होनेवाले निखिल सदद्रव्योंके प्रकृतिरूप ब्रह्मका वेदान्तरूप उपनिषद्में भी ब्रह्मतया निरूपण किया गया है. इसी एकमेवाद्वितीय ब्रह्मकी अनेकविध आधिभौतिक आध्यात्मिक या आधिदैविक अभिव्यक्तिओंके निरूपक इतिहास-पुराण एकायन देवविद्या या ब्रह्मविद्या जैसे शास्त्रोंका उल्लेख उपनिषद्में भी “ऋग्वेदं भगवो अध्येमि यजुर्वेदं सामवेदम् आथर्वणं चतुर्थम् इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं... एकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां...” (छान्दो.उप.७।१।२) मिलता ही है. उपनिषदोंमें अनुपदिष्ट तत्त्व या अविहित कर्तव्य इन विविध शास्त्रोंमें मिलते होनेपर भी महाभारत, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र, पुराणों या शैव/वैष्णव तन्त्रोंके दक्षिणागमोंमें भी उपनिषद्विरुद्ध कोई तत्त्व या कर्तव्य उपदिष्ट हुवा नहीं है. उल्लेखनीय है कि अतएव उपनिषद्वाक्यार्थोंकी मीमांसाके रूपमें प्रकट बादरायणीय सूत्रमें ब्रह्मको ‘श्रुतियोनित्वात्’ कहनेके बजाय ‘शास्त्रयोनित्वात्’ (ब्र.सू.१।१।३) ही कहा गया है.

अतः इन शास्त्रोंके अन्तर्गत ‘इतिहास-पुराण’ या ‘एकायन’ अथवा ‘देवविद्या-ब्रह्मविद्या’ पदोंद्वारा अभिप्रेत कौन-कौनसे शास्त्र हैं, इस बारेमें विभिन्न भाष्यकारोंमें मतभेद सम्भव है. परन्तु सभी इतना तो मान कर ही चले हैं कि वेदशास्त्र अनेकविध विद्यास्थानोंसे उपबृंहणीय है (दृष्ट. : ब्र.सू.शा.भा.१।१।३). श्रीमध्वाचार्य तो “ऋग्यजुस्सामाथर्वाश्च भारतं पञ्चरात्रकं मूलं रामायणं चैव ‘शास्त्रम्’ इति अभिधीयते. यच्च अनुकूलम् एतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम्. अतो अन्यो ग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्तम् तत्” (ब्र.सू.मा.भा.१।१।३) ऐसा स्कन्दपुराणीय वचन भी ‘शास्त्र’पदकी अर्थव्याप्ति दिखलानेको देते हैं. यों सर्वशिष्टजनों या आप्तजनों द्वारा मान्य इन शास्त्रोंके अभिप्रायोंके इतरेतर-समन्वित अभिप्रायसे अविरोद्ध ही कोई अश्रुतपूर्व पदार्थ भी मान्य हो सकता है. विरोद्ध तो, परन्तु, कुछ भी मान्य नहीं हो पाता, किसी मतको ‘वेदान्त’पदवाच्य बनना हो तो (दृष्ट. : शिष्टापरिग्रहाधिकरण ब्र.सू.२।१।४). एक मतको मान्य किसी बातको दूसरा कोई अमान्य घोषित करे तो प्रथम मतकेलिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह

दरसाये कि उसकी बात कैसे इन शास्त्रोंके समन्वित प्रामाण्यके आधारपर प्रमाणित होती है. वेदान्तके सभी सम्प्रदायोंमें यही विचाररिति स्वीकारी गयी है. अतः इस विषयमें छूटछाट स्वामिनारायणमतको मिल नहीं सकती, यदि उसे स्वयंके वेदान्त होनेका दावा आगे रखना हो तो.

इस सन्दर्भमें यह अवधेय हो जाता है कि इन शास्त्रोंके अन्तर्गत किसी एक शास्त्रमें उक्तका प्रतिपादन या पुनरावर्तन ही यदि अपर शास्त्रमें भी मिलना अनिवार्य निकष होता तो अनधिगतार्थाधिगमकत्वरूप प्रामाण्य ही उसका सिद्ध ही नहीं हो पायेगा. अतः शिष्टादृत किसी एक शास्त्रमें अनुक्त किसी पदार्थका अपर शिष्टादृतशास्त्रोक्त पदार्थके साथ समन्वय कर दिखानेके वैचारिक प्रयासमें अन्तर्विरोध खोजना अपनी शिष्टादृत परम्पराका अज्ञान है. अतः इस तरहकी उपपत्ति/अनुपपत्तिओंको प्रस्तुत कर श्री सा.श्रु.जी प्रस्तुत चर्चाको कैसा मोड़ देना चाहते हैं यह स्पष्ट नहीं हो पाता. क्योंकि शास्त्र या आगम तो जैन-बौद्ध आदिके भी हैं ही. इन विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोंमें मान्य इन बाह्यागमों और आर्षशास्त्रों के बीच विभाजकरेखा अविच्छिन्नपरम्पराका सातत्य ही स्वीकारा गया है.

अतएव वैदिक परम्परामें मान्य शास्त्रोंमें अवतारतया निरूपित ऋषभदेव या भगवान् बुद्ध को अवतारतया मान्य रखनेके बावजूद इनके उपदेश शिष्टादृत शास्त्रवचनोंसे विरोद्ध जाते होनेके कारण प्रमाणतया मान्य नहीं किये गये हैं. इस परम्परासे बहिर्भूत आगम इन्हीं शास्त्रोंमें उपदिष्ट तत्त्व अथवा कर्म का ही उपदेश यदि करते हों तो, उदाहरणतया विविध देवरूपोंका, या शारीर आत्माका, उसके मोक्षका; अथवा मुक्त्यर्थ अभीष्ट साधनाओंका, तो उन्हें स्वयं अपने पारम्परिक शास्त्रोंसे अधिगत अर्थके ही ज्ञापक होनेके कारण तत्प्रतिपाद्यत्वेन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता. ऐसी स्थितिमें स्वामिनारायणपन्थ यदि अविच्छिन्नसम्प्रदायपरम्परासे कट कर श्रीसहजानन्द स्वामीकी पुरुषोत्तमताके दावेको प्रस्तुत करना चाहता हो तो उसके सिद्धान्तको ‘वेदान्त’ कैसे माना जा सकता है?

मान लो कि यदि कोई पश्चिमी यहूदी ईसाइ या इस्लामी चिन्तक स्वयंके बारेमें तत्त्वपञ्चकान्तर्गत पुरुषोत्तम होनेके दावेके साथ अपने आधीन अवशिष्ट चार तत्त्व ब्रह्म ईश जीव और माया जैसे पदोंके वहांकी किसी भाषामें पर्यायवाचक

पदोंके द्वारा अपने रहस्यग्रन्थरूप वचनामृतोंमें निरूपण करता हो तो उसे 'स्वामिनारायणीय वेदान्त' मानना कि नहीं? यदि 'हां' तो श्रीसहजानन्द स्वामीका एकाकी पूर्णपुरुषोत्तमत्व निरस्त हो जायेगा और यदि 'ना' तो उसके अस्वीकारार्थ जो हेतु उपस्थापित किये जायेंगे वे श्रीसहजानन्द स्वामीपर भी लागू होंगे ही.

इन प्रश्नोंमें उलझी समस्याकी गम्भीरताके किसी तरहके समाकलनके बिना धांधली करनेपर जैसे पहले भी एक बार "Is 'Akshar' an unsolved riddle?" आलेखपत्रमें विद्वान् लेखकने भी "The same Aksharbrahman simultaneously express itself in personal and impersonal aspects. This is stated in shrutis and puranas:..." "भुवः' इति द्वे बाहू द्वे एते अक्षरे" (बृह.उप.५।५।३), "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं च अमृतं च" (बृह.उप.२।३।११), "घृणिः' इति द्वे अक्षरे" (नृसिं.पू.ता.उप.४।२) . All these shruti statements speak of (a)Aksharbrahman as personal i.e. the form of Aksharbrahman with qualities..." (इज् 'अक्षर' एन् अन्सॉल्व्ड रिडल्? पृ.१३५) ऐसा हास्यास्पद श्रौत प्रमाण प्रस्तुत कर दिया क्योंकि प्रथम वचनमें १='भु' + २='वः' जैसे दो अक्षरोंका निरूपण है नकि धामरूप और मूर्तरूप दो अक्षरोंका. द्वितीय वचनमें जैसे ब्रह्मके मूर्तामृत दो रूप प्रतिपादित किये हैं वैसे ही 'मर्त्यामृत' रूप भी वर्णित हुवे हैं इनमें वायु-अन्तरिक्षसे भिन्नको मूर्त माना है और वायु-अन्तरिक्षको अमूर्त माना है. ऐसी स्थितिमें अमूर्त अक्षरधाम मायाप्रकृतिजन्य भौतिक वायु-अन्तरिक्षरूप सिद्ध होगा और मूर्ताक्षर पृथ्वी-जल-तेजोरूप मायिक ही सिद्ध होगा, मायातीत नहीं. नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्के अविक्ल वचनमें तो "घृणिः' इति द्वे अक्षरे, 'सूर्यः' इति त्रीणि, 'आदित्यः' इति त्रीणि" पाठ मिलता है तो सब मिला कर आठ अक्षरब्रह्म सिद्ध होंगे किमाश्चर्यम् अतः परम् अतः एसी धांधली न की जाये तो एक अच्छी बात होगी. अतः वेदान्तशास्त्रीय प्रमेय या साधना का शिष्टादृत शास्त्रोंके आधारपर प्रतिपादन ही उचित होता है नकि साम्प्रदायिक रहस्यग्रन्थोंके आधारपर. अस्तु.

अतएव स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामी भी अधोनिर्दिष्ट वचनोंमें-

“श्रीमन्नारायणस्मृत्या सहिताः (१)शास्त्रसम्मताः... वेदानां च न कर्तव्या निन्दा श्रव्या नच क्वचित्” (२१) (२)“वर्णाश्रमधर्मो यः स हातव्यो न केनचित्. परधर्मो नच आचर्यो नच पाखण्डकल्पितः” (२४) (३)“संस्काराः च आह्निकं कार्यं स्व-स्वगृह्यानुसारेण कर्तव्यं” (९१) (४)“वेदाश्च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधं पुराणं भारतेतु श्रीविष्णोः नामसहस्रकं तथा श्रीभगवद्गीता नीतिः च विदुरोदिता श्रीवासुदेवमाहात्म्यं स्कान्दवैष्णवखण्डगम्. (५)धर्मशास्त्रान्तर्गता च याज्ञवल्क्यऋषेः स्मृतिः एतानि अष्ट मम इष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि” (९३-९५) (६)“शारीरकाणां भगवद्गीतायाः च अवगम्यतां रामानुजकृतं भाष्यम् आध्यात्मिकं मम” (१००) “मतं विशिष्टादृतं मे” (१२१) (७)“सच्छास्त्राणां समुद्भूत्य सर्वेषां सारम् आत्मना पत्रीयं लिखिता नृणाम् अभीष्टफलदायिनी” (२०४). (शिक्षापत्री).

यहां शिष्टादृत शास्त्रोंको मान्य करना चाहते हैं. जैसाकि (१)अंशमें प्रस्तुत शिक्षापत्रीका प्रणयन शिष्टादृत सकलशास्त्रोंको सम्मत सनातन धर्मके उपदेशार्थ है नकि देशमें उस समय प्रचलित सम्प्रदायोंकी अनुगामी जनताको अपने सम्प्रदायकी ओर खींचनेको किया जाता छद्म, यह ग्रन्थोपक्रममें ही ग्रन्थकारने स्पष्ट कर दिया है. (२)अंशमें उन शिष्टादृत शास्त्रोंमें निरूपित धर्मसे विपरीत जो कुछ हो उसे 'पाषण्ड' कह कर उसी बातपर अधिक भार डाला गया है. (३)अंशमें शिक्षापत्रीके आधारभूत आठ शास्त्रोंसे अतिरिक्त अन्य भी शिष्टादृत शास्त्रोंकी व्यवहारनियामकता दरसायी है. (४)अंशमें यह शिक्षापत्री केवल सदाचारपरक शास्त्रोक्त धर्मोंके उपदेशार्थ प्रवृत्त ग्रन्थ न हो कर तत्त्वोपदेशपरक शास्त्रोक्त तत्त्वोंके उपदेशार्थ भी प्रवृत्त ग्रन्थ है यह दरसा दिया गया है. (५)अंश सदाचारपरक शास्त्रोंपर आधारित कर्तव्योंके उपदेशार्थ भी है यह दरसाया. (६)अंश इन प्राचीन शास्त्रोंसे सीधे स्वयं जुड़ जानेके बजाय अविच्छिन्न बादरायणसूत्र और भगवद्गीता पर अवलम्बित होनेवाले रामानुजसम्प्रदायकी परम्परासे अपना सम्बन्ध स्वीकार कर तदीय ग्रन्थ और तदुक्त सिद्धान्त दोनोंके प्रति अपनी निष्ठा दरसायी है. (७)अंश उपसंहारमें भी उपक्रमोक्त बातोंकी ही पुनरावृत्ति की गयी है.

यों पुनःपुनः भारपूर्वक उल्लिखित वैदिक ऋषियोंकी अविच्छिन्न परम्परामें समादृत शास्त्रोंके ही साथ अपने सम्बन्धका निर्देश श्रीसहजानन्द स्वामीजी कर रहे हैं। यह तो ठीक ही है कि उपदेशकालमें या विविदिषावस्थामें श्रीसहजानन्द स्वामी अपनेको मान्य आठ शास्त्र ही सकल शास्त्रोंके अन्तर्गत प्राधान्येन अवलम्बनीय मान कर चले हैं। क्योंकि शिक्षापत्रीरूप ग्रन्थ इन शास्त्रोंके साररूपेण उन्होंने स्वयं संकलित किया है। क्योंकि स्वयं इस ग्रन्थके आन्तरिक साक्ष्यके आधारपर भी अष्टबहिर्भूत 'स्व-स्वगृह्यसूत्र'का प्रामाण्य भी उन्हें सर्वथा अभिमत तो सिद्ध होता ही है। इस निकषको भलीभांति या तो हृदयगत न कर पानेके कारण अथवा किसी तरहकी कुछ वैचारिक उलझनके कारण श्री सा.श्रु.जीके समाधानमें स्वामिनारायणीय दर्शनसिद्धान्त और धर्मसाधना के बीच दर्शनसिद्धान्तके बोधार्थ शिक्षापत्रीकी गौणता दिखलायी गयी है।

वस्तुतः तथाकथित प्रस्थानचतुष्टयका एक बवंडर सा जो आधुनिक लेखकोंने वेदान्तके आधारभूत शास्त्रोंके बारेमें उठा रखा है, उसके बारेमें यह कथनीय है कि तथाकथित वेदादि प्रस्थानचतुष्टयीमें जिन स्वेतर शास्त्रोंको प्रमाणतया मान्य किया गया है, उनके अविरोध या समन्वय के बिना प्रस्थानचतुष्टयीका प्रामाण्य भी अक्षुण्ण नहीं रह पाता अतः ऐसी विचाररिति न्यायसिद्धाञ्जनकार श्रीवेदान्त देशिकके शब्दोंमें कुछ कहना चाहें तो “अश्रुतसिद्धान्तस्य पुस्तकनिरीक्षणान् अयं दोषः” कहना ही उचित होगा।

रही बात महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी स्वयंकी वेदान्तव्याख्या और स्वयंको सुहाती साधनाप्रणाली तथा कुलपरम्परागत श्रीविष्णुस्वामीकी वेदान्तधारणा और साधनाप्रणाली के बीच रहे प्रभेदके मुद्देकी। श्री सा.श्रु.जीने स्वयं महाप्रभुके वचन, उनके आधारभूत उपजीव्य श्रीभागवतपुराण, उनके परवर्ती व्याख्याकारोंके विधान और सर्वदर्शनमेंसे भी वचनों को उद्धृत कर श्रीविष्णुस्वामिमत और वाल्लभमत के बीच परस्पर अन्तर्विरोध सा दिखलानेकी चेष्टा की है-

“इतने सैद्धान्तिक भेदके रहनेपर 'विष्णुस्वामिमतानुवर्तित्व'का क्या अर्थ करना चाहिये? क्या वाल्लभस्वामी अपने पूर्ववर्ती आचार्यसे विरुद्ध अथवा भिन्न

विचार रखते थे? अथवा विष्णुस्वामिमतानुवर्तित्व ही गलत है? चिन्तकोंका कहना है कि भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा स्वप्नमें 'सिद्धान्तरहस्य' का ज्ञान होनेपर ही भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्यता अथवा शुद्धाद्वैतमार्ग का प्रारम्भ हुवा। इसके पहले विष्णुस्वामीके सिद्धान्त ही सम्प्रदायमें मान्य थे” (समा.पत्र.२.३वल्लभमत)।

सर्वप्रथम तो जिन चिन्तकोंकी बात श्री सा.श्रु.जी कर रहे हैं, उन्होंने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके मतके बारेमें आरामकुर्सीपर बैठ कर अपना स्वतन्त्र चिन्तन किया है या महाप्रभुके ग्रन्थोंके गम्भीर और विशद अवगाहनके रूपमें चिन्तन किया है, इसे जाननेकी न तो मुझे कोई उत्कण्ठा है और न मेरे पास कोई आधारप्रद सूचना ही। फिरभी इतना अवश्य कह सकता हूं कि स्वयं महाप्रभुने ऐसे किसी स्वप्नकी बात कहीं कही नहीं है। साम्प्रदायिक इतिहासग्रन्थोंमें भी कहीं ऐसी किसी बातका कोई उल्लेख मिलता नहीं है। स्वयं महाप्रभुकी कण्ठोक्ति जाननी हो तो “श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरशः उच्यते” (सिद्धा.रह.१) वचन मिलता है। ऐतिह्यग्रन्थोंके आधारपर एकादशीको महाप्रभुके रात्रिजागरणके नियमके कारण 'महानिशि'पदका भी अर्थ स्वप्न तो हो नहीं सकता है। अतः यह तो निरी गप्प ही लगती है।

यह घटना भी आपके तीस वर्षकी आयुमें घटित हुयी ऐसा इतिहासग्रन्थोंके आधारपर सिद्ध होता है। जबकि आपका शुद्धाद्वैतवादानुसारी चिन्तन तो इससे बहुत पूर्व प्रकट हो ही चुका था। अतः अब द्वैतवाद या अद्वैतवाद के मतभेदके बारेमें भी कुछ अवधेय हो जाता है। स्वयं महाप्रभुने जहां श्रीविष्णुस्वामीके मतको 'तामस' कहा है और अपने मतको 'निर्गुण', वहां वह न तो श्रीविष्णुस्वामीके मतकी निन्दाके लिये कहा है और न वह श्रीविष्णुस्वामीके मतकेलिये स्वयंकी अस्वीकृति दरसानेके अभिप्रायवश कहा है। जिन ब्रजभक्तोंको आपने अपनी भक्तिके लिये गुरुपम माना उन्हें भी 'तामसलीलाके भक्त' ही कहा है।

रही बात दोनों दृष्टिकोणोंके बीच रहे भेदकी तो उसके बारेमें भी महाप्रभुने स्वयं ही उसी स्थलपर अपना यह उद्गार भी प्रकट किया है कि “भेदः

पारमार्थिकः इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोगः उक्तः (भगवता भागवतएव) ...
तमोरजस्सत्त्वैः भिन्नो, अस्मत्प्रतिपादितः च नैर्गुण्यः. एवं चतुर्विधोऽपि भगवता प्रतिपादितः” (सुबो.३।३२।३७). अतः भूलना नहीं चाहिये कि इस विधानमें ‘च’कार चतुर्थ मतपरिगणनाके पूरणार्थ है नकि इतरमतोंकी निजाभिप्रेतताके वारणार्थ. क्योंकि महाप्रभुके भी मतमें इतर मतत्रयीकी तरह भेद अपारमार्थिक नहीं प्रत्युत पारमार्थिक ही माना गया है. अतः इस अंशमें उनके साथ वैमत्य हो नहीं सकता है. हां, भगवान्के सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसंकल्पसामर्थ्य के वश वह पारमार्थिक भेद महाप्रभुको कृत्रिम लगता है, स्वाभाविक नहीं. अतः स्वाभाविक और पारमार्थिक का प्रभेद कभी भूलना नहीं चाहिये. भेदको स्वाभाविक माननेमें इतर मतोंके साथ वैमत्य अवश्य है पर पारमार्थिक माननेमें नहीं, यह सावधानतया अवधेय है, यदि महाप्रभुके मतको भलीभांति बुद्धिगत करना हो तो. अतएव “यदि ब्रह्म तावन्मात्रं भवेत् तदा अयं दोषः. तत् पुनः जीवाद् जगतः च अधिकम्. कुतो? भेदनिर्देशात्” (अणुभा.२।१।२२) इस विधानमें महाप्रभुने बेझिझक पारमार्थिक भेदको स्वीकारा ही है. जहां तक अधिकरणसंग्रहकारके उद्धृत वचनके अभिप्रायकी बात है तो वह भी यह नहीं कह रहे हैं कि इन तीनोंके साथ महाप्रभुका इस विषयमें किसी तरहका विरोध है. क्योंकि वाल्लभ सम्प्रदायमें ऐसा कोई कहना भी चाहे तो स्वयं उसका ही वचन अप्रमाण हो जायेगा, महाप्रभुकी इस स्पष्ट स्वीकारोक्तिके चलते. अतः अधिकरणसंग्रहकार तो यही कहते से प्रतीत होते हैं कि श्रीविष्णुस्वामी प्रभृति आचार्योंके अनुसार सेव्यसेवकभाव, जड़जीवात्मकसृष्टि-तदुपादानभूतब्रह्म और इनके बीच अभेदका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिमें परस्पर विरोध प्रकट होता है, जबकि उस दिखलायी देते विरोधका उपशमन महाप्रभुने अपने निर्गुणमतके आधारपर कर दिखाया है. अतः पारमार्थिक भेदको अकृत्रिम स्वाभाविक मानना और उसे आत्मलीलार्थ प्रकट कृत्रिम मानना, ये दो विभिन्न बातें हैं. न तो भेदको पारमार्थिक माननेसे वह अकृत्रिम बन जाता है और न कृत्रिम मान लेनेसे वह अपारमार्थिक ही सिद्ध होता है. इन दोनों धारणाओंके बीच रही सूक्ष्मरेखा न समझनेके कारण ही यहां यह अकाण्डताण्डव प्रकट हुवा है

इसके बाद विचारणीय बनती है श्रीविष्णुस्वामीके श्रीनृसिंहोपासक होनेकी और महाप्रभुके श्रीकृष्णोपासक होनेकी कथा. इस विषयमें भी यह भलीभांति समझ रखना चाहिये कि पुष्टिमार्गमें महाप्रभुके कालसे अद्यावधि भगवान् श्रीनृसिंहकी उपासना सभी आचार्यवंशजोंके गृहमें श्रीकृष्णकी भक्तिभावोपेत सेवाके अन्तर्गत

ही अनुष्ठित होती आयी है. श्रीकृष्णके चार पुष्टि-अवतारोंमें श्रीनृसिंह श्रीवामन श्रीराम और श्रीबलराम को माना ही गया है. प्रधानपीठमें बिराजमान भगवान् श्रीनाथजीके विग्रहकी पीठिकामें वेदादिशास्त्ररूप शेष(=बलराम) श्रीनाथविग्रहकी सकलशास्त्रप्रतिपाद्यताके द्योतनार्थ है. इसी तरह श्रीनाथविग्रहकी क्षराक्षरातीताके द्योतनार्थ नृसिंहाकृति उत्कीर्ण है. इसी तरह स्वयं वाल्मीकिरामायणका भी प्रामाण्य, तथाकथित प्रस्थानचतुष्टयसे बहिर्भूत होनेपर भी, श्रीमद्भागवतकी तरह समाधिभाषारूपेण ही महाप्रभु स्वीकारते हैं : “अस्य व्यासो विस्तारः पूर्वम् अनेकैः उक्तः. साम्प्रतं वाल्मीकिः समाधौ उपलभ्य सर्वम् उक्तवान्. अतः सुतरां इदानीन्तनं प्रमाणम्” (दृष्ट. : त.दी.नि.प्र.२।८१).

श्री सा.श्रु.जी कहते हैं-

“लेकिन भागवतके सभी शब्द समानरूपसे उपादेय हैं, ऐसा कह सकते हैं? ऐसा कहेंगे तो श्रीकृष्णको कृष्णकेश कहनेवाला सन्दर्भ... कलावतार कहनेवाला सन्दर्भ क्षीरसागरवासी विष्णुके अवतार कहनेवाला सन्दर्भ का ‘कृष्णस्तु भगवान् स्वयं’ का इस सन्दर्भसे विरोध पड़ेगा. क्या भागवतमतप्रवर्तक व्यासजी स्वयं विरुद्ध बात कर रहे हैं?... सभी व्याख्याकारोंने कुछ न कुछ समाधान दे कर समझौता किया है. मतलब यह कि मतप्रवर्तक अपने मतमें पूर्वप्रवर्तित शास्त्र अथवा विचारधारा को सम्प्रदायानुकूल अर्थ कर के ही स्वीकारते हैं” (समा.पत्र.वल्ल.२.३).

श्रीसहजानन्द स्वामीका भी यदि ऐसा अभिप्राय होता तो वे “एतानि अष्ट मम इष्टानि... श्रीमद्भागवतस्य एषु स्कन्धौ दशमपञ्चमौ सर्वाधिकतया ज्ञेयौ कृष्णमाहात्म्यबुद्ध्ये” (शिक्षाप.९८) ऐसे वचन वे कभी लिखते नहीं उन्होंने अपना मत इन शास्त्रोंके अनुकूल गढ़ना चाहा है नकि इन शास्त्रोंका अपनी मान्यताके अनुकूल मनमाना अर्थ निकालना चाहा है. अतः यह तो श्रीसहजानन्द स्वामीके उपास्य इष्टदेवके माहात्म्यके अवमूल्यन करनेको ही केवल उनके आधुनिक अनुगामी होनेका दावा करनेवालोंके हृदयका निगूढ़ मनोभाव लगता है. फिरभी मैं तो यही कहना चाहूंगा कि जो भी कोई अपने सिद्धान्तको वेदान्त

मानता हो तो उसे यह बात यों नहीं कहनी चाहिये; प्रत्युत यों कहनी चाहिये कि “पूर्वप्रवर्तित शास्त्र अथवा विचारधारा को सम्प्रदायानुकूल अर्थमें नहीं परन्तु अपने साम्प्रदायिक मतको पूर्वसिद्ध शास्त्रीय अर्थके अनुकूल ढाल कर प्रस्तुत करना चाहिये”. अतएव महाप्रभु कहते हैं “नहि स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचारः कर्तुं शक्यो ब्रह्म पुनः यादृशं वेदान्तेषु अवगतं तादृशमेव मन्तव्यम्” (ब्र.सू.वाल्म.भा.१।१।१). अन्यथा कल कोई स्वयं स्वामिनारायण सम्प्रदायका अनुगामी ही इस सम्प्रदायके रहस्यग्रन्थोंको अपने अनुकूल अर्थके अभिप्रायको प्रकट करने स्वतन्त्र हो जायेगा कि श्रीसहजानन्द स्वामी ईसा मसीह या महम्मद पयगम्बर के भारतीय जनोंके उद्धारार्थ प्रकटे अवतार थे तब इस निकषको माननेवालोंके पास ऐसोंको रोकनेका कोई उपाय बच नहीं जायेगा.

श्रीकृष्णके अनेकानेक अवतार हुवे हैं. स्वयं श्रीकृष्ण भी सभी कल्पोंमें पूर्णपुरुषोत्तमतया प्रकट न हो कर कभी अंशावतार, कभी कलावतार, कभी आवेशावतार; और कभी उनकी सकामोपासना की जानेपर क्षुद्रदेवतया भी प्रकट होते हैं. ऐसी स्थितिमें पुराणोंमें मिलते श्रीकृष्णचरित्रसम्बन्धी विविध निरूपण तो उस एकमेवाद्वितीय तत्त्वके अनेकविध रूप-नाम-कर्मोंके सहित अनेकविध प्राकट्यका ही प्रमाण मानी जाती है. यही तो उनके परब्रह्मत्वका लिंग बनता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं “प्रत्यब्दं वृक्षवत् कल्पाः भुवनद्रुमरूपिणो अन्यकल्पोक्तरीत्यापि कथितो भगवान् स्वयम्” (त.दी.नि.२।५८-५९). वैसे ऐसा विचित्र विधान करनेसे पूर्व श्री सा.श्रु.जी स्वयं श्रीसहजानन्दजीका इस विषयमें जो अभिप्राय है उसे भलीभांति हृद्गत कर लेते तो अच्छी बात होती :

“स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभुः, रुक्मिण्या रमया उपेतो लक्ष्मीनारायणः सहि, ज्ञेयो अर्जुनेन युक्तो असौ नरनारायणाभिधो, बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामा उच्यते सच... अतश्च अस्य स्वरूपेषु भेदो ज्ञेयो न सर्वथा, चतुरादिभुजत्वन्तु द्विबाहोः तस्य चैच्छिकं, तस्यैव सर्वथा भक्तिः कर्तव्या मनुजैः बुधैः, निःश्रेयस्करं किञ्चित् ततो अन्यद् न इति दृश्यतां...कृष्णः तदवताराः च ध्येयाः तत्प्रतिमापि च.” (शिक्षाप.१०९-११५).

खैर, महाप्रभु तो कहते ही हैं कि “नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुतकर्मणो रूपनामविभेदेन यः क्रीडति, यो जगद् भूत्वा क्रीडति; यतो जगत् क्रीडति” (दृष्ट. : त.दी.नि.प्र.१।१).

वस्तुतः तो श्री सा.श्रु.जीके भीतर-‘चतुर्भुज विरु.द्विभुज’, ‘वैकुण्ठ विरु. गोलोक’, ‘लक्ष्मीपति विरु. राधापति’, ‘श्रीकृष्ण विरु.श्रीनृसिंहादि अवतार’-ऐसे अनेक विरोधोंके निहारते रहनेकी मनोग्रन्थि इतनी कस कर उलझ गयी है कि उन्हें स्वयं उनके आचार्यके सुस्पष्ट विधान भी याद नहीं आते जो हम ऊपर उद्धृत कर आये. श्रीसहजानन्द स्वामीके इन शब्दोंके अगम्भीर अवगाहनद्वारा भी हमारे कथ्यकी प्रामाणिकता परखी जा सकती है. यदि शिक्षापत्रीका ही, किन्तु, तत्त्वनिरूपणमें प्रामाण्य अभिमत न हो तो, कोई गति फिर बच नहीं जाती

खैर, संक्षेपमें श्रीविष्णुस्वामिमतका अनुगामित्व महाप्रभुको कुलपरम्परासे प्राप्त ही था, उनका जन्म ही इस वैष्णवसम्प्रदायके अनुगामी ब्राह्मणके कुलमें हुवा था. अतएव जैसे उन्होंने वैदिक-स्मार्त वर्णाश्रमधर्मका त्याग किये बिना तदविरोधी सर्वाधिकारक वैष्णव भक्तिमार्ग और प्रपत्तिमार्ग का भी भगवदाज्ञा और मान्य सकलशास्त्रोंसे अतिरुद्धतया अवगत होनेपर प्रवर्तन किया, ठीक उसी तरह कुलपरम्पराप्राप्त तान्त्रिक वैष्णवसम्प्रदायका भी त्याग किये बिना तदविरोधी अपना उक्त पुष्टिभक्तिसम्प्रदाय उन्होंने प्रवर्तित किया. अतएव महाप्रभुने यह खुलासा स्वयं भी दिया ही है कि-

१. “भगवच्छास्त्रम् आज्ञाय विचार्य च पुनःपुनः यद् उक्तं हरिणा पश्चाद् सन्देहविनिवृत्तये : एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम् एको देवो देवकीपुत्रएव मन्त्रोऽपि एकः तस्य नामानि यानि कर्मापि एकं तस्य देवस्य सेवा. इति आकलय्य सततम्...” (त.दी.नि.१।३-५).

२. “विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं, प्रेम च साधनं, तत्साधनं नवविधा भक्तिः, तत्प्रतिपादिका गीता, संक्षेपतः तस्य वक्ता स्वयम् अभूद् हरिः. तद्विस्तारो भागवतं सर्वनिर्णयपूर्वकं व्यासः समाधिना सर्वम् आह कृष्णोक्तम् आदितः. मार्गो अयं

सर्वमार्गाणाम् उत्तमः परिकीर्तितो यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचकः
सर्वथा यतः. वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे छलेनतु क्रियमाणे न
धर्मः स्याद् अतः तस्माद् न मोचनम्. बुद्धिमान् आदरं तस्मिन् छले
साध्येऽपि दुःखतः त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले भक्तिमार्गे समाविशेत्.
विरुद्धकरणं नास्ति प्रक्रिया न विरुद्ध्यते कल्पितैरेव बाधः स्याद्
अवोचाम प्रमाणताम्... नात्र श्रुतिस्मृतिविरुद्धाचारो, नापि प्रमेयं
वेदविरुद्धम्. अतो नात्र विरुद्धसम्भावनापि...”
(त.दी.नि.प्र.२।२२०-२२६)

यहां सुस्पष्टतया हम देख सकते हैं महाप्रभु श्रुत्यादि शास्त्रोंसे अविरुद्ध होनेकी कसौटीपर खरे उतरनेकी निश्चितिके साथ ही नूतन श्रीकृष्णसेवाभक्ति-शरणागतिके सम्प्रदायप्रवर्तनकी शपथ ले रहे है. स्वयं अपनेको दिखलायी दिये स्वप्न या मनोभ्रम के आधारपर नहीं.

इस मार्गकी उक्त सकल शास्त्रोंके सिद्धान्तसे अविरुद्धता सिद्ध करनेको शास्त्रार्थप्रकरणके केवल उपदेशकालमें प्रमाणचतुष्टयका समन्वितप्रामाण्य प्रस्तावित किया है, शिष्टादृत अन्यान्य शास्त्रोंके अप्रामाण्यको मान कर या उसे इंगित करनेको नहीं. अतएव इसी निबन्धके अन्तमें “अर्थो अयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः अन्यैः च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रैः निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव... सर्वेषां प्रमाणानाम् अत्र एकवाक्यता अन्येषु वाक्याभासाएव... अन्यथा चतुर्दशविद्यानां सरस्वतीरूपत्वाद् एकनिष्ठता न स्यात्” (त.दी.नि.प्र.१।१०४) ऐसे उद्गारद्वार सकल शास्त्रोंके समन्वयमें ही; अर्थात् एकवाक्यता सिद्ध करनेपर ही शास्त्रप्रामाण्यको स्वीकारनेपर भार देते हैं, नकि केवल भागवतके प्रामाण्यके अन्धानुकरणपर. अतः महाप्रभुको भागवतका सर्वोपरि और अन्यान्य शास्त्रोंका गौणप्रामाण्य मान्य नहीं है, जैसाकि श्री सा.श्रु.जी सोच रहे हैं. महाप्रभु तो सुस्पष्ट शब्दोंमें, अतएव, कहते हैं “एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं सत् प्रमाजनकम्. एवं पूर्णज्ञानोदयावधि यद् ग्राह्यं प्रमाणत्वेन, तद् निरूप्य तदनन्तरं यत् प्रमाणं तद् आह ‘अथवा सर्वरूपत्वात् नामलीलाविभेदतो विरुद्धांशपरित्यागात्, प्रमाणं सर्वमेव हि” (त.दी.नि.प्र.१।७-९). अतएव तत्त्वार्थदीपनिबन्धके अगले सर्वनिर्णयप्रकरणमें

प्रामाण्यके इस प्रमाणचतुष्टयरूप निकषके साथ बंधे रहना महाप्रभुने आवश्यक नहीं समझा. एतावता सिद्ध होता है कि इस तरहके प्रभेदोंको समझे बिना ही श्री सा.श्रु.जीने भागवतके श्रुत्यादिशास्त्रोपजीवी सर्वसन्देहवारक चरमप्रामाण्य और अन्यान्य अनेकशास्त्रोंसे उपबृंहणीय श्रुतिके सर्वोपजीव्य प्रथमप्रामाण्य के प्रभेदको समझनेका तनिक भी कष्ट नहीं उठाया है. और न यही कष्ट उठानेका प्रयास किया है कि प्रस्तुत प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशि केवल विविदिषाकाल या उपदेशकालीन प्राथमिकी व्यवस्था है, नकि शास्त्रके असम्भावना-विपरीतभावनारहित पूर्णबोध हो जानेके बादकी.

हम देख सकते हैं कि स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीने भी इन चारके बजाय आठ शास्त्रोंकी शिक्षापत्रीके उपदेशकालमें जो सच्छास्त्रतया प्रमाणतया उपादेयता स्वीकारी है, वह अपनेको मान्य सकलशास्त्रोंकी अन्तिमेत्थं परिगणना नहीं है. फिरभी निजसम्प्रदायके रहस्यके परिज्ञानार्थ इनके भी प्रामाण्यका त्याग या उपेक्षा कर केवल साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके प्रामाण्यपर अवलम्बित होना स्वगोष्ठ्येकरम्य कथा हो सकती पर शास्त्रविद्वद्गोष्ठिमान्य नहीं. अस्तु.

(५.क्या शिक्षापत्रीमें भी तत्त्वपञ्चक अर्थाक्षिप्त माना जा सकता है?)

श्री सा.श्रु.जी कहते हैं “फिरभी जब शिक्षापत्रीमेंसे ही तात्त्विक विचारोंको प्रधानोपादेय मान कर कोई आक्षेप करते हैं, तब शिक्षापत्रीमेंसे भी प्रत्युत्तर मिल सकता है... : ब्रह्मनिरूपण^{३३} ‘निजात्मानं ब्रह्मरूपं देहत्रयविलक्षणं विभाव्य तेन कर्तव्या भक्तिः कृष्णस्य सर्वदा’ – ‘तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिः च गम्यताम्’ यहां ‘श्रीकृष्ण’ पदसे परमात्मा, ‘निजात्मा’ पदसे जीवात्मा और ‘देहत्रय’ पदसे मायाका निरूपण है लेकिन ‘ब्रह्मरूप’ शब्दान्तर्गत ब्रह्म क्या तत्त्व है? यह प्रश्न होता है. ‘सति कुड्ये चित्रम्’ इस न्यायके अनुसार... इस ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानकेलिये साम्प्रदायिक ग्रन्थ ‘वचनामृत’ ‘सत्संगिजीवन’...आदि ग्रन्थोंको देखना पड़ेगा.” (समा.पत्र.४.३.१वल्ल.).

वैसे साम्प्रदायिक ग्रन्थों द्वारा मतरहस्यको समझ लेनेमें तो कोई आपत्तिकी बात हो ही नहीं सकती परन्तु जब वे स्वयं शिक्षापत्रीके दुरूह रहस्योंको समझानेके बजाय उसके विपरीत या उसका प्रत्याख्यान ही करने लगें तब तो उन्हें कदापि नहीं देखने चाहिये, स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीके “मद्रूपम् इति मद्वाणी मान्या इयं परमादरात्” – “कृष्णभक्तेः... पतनं यस्य वाक्यतः स्यात् तन्मुखाद् नवै श्रव्या” – “कृष्णकृष्णावताराणां खण्डनं यत्र... तानि शास्त्राणि न मान्यानि कदाचन” – “इमामेव ततो नित्यम् अनुसृत्य मम आश्रितैः यतात्मभिः वर्तितव्यं नतु स्वैरं कदाचन... नेत्थं ये आचरिष्यन्ति तेतु अस्मत्सम्प्रदायतः बहिर्भूताः इति ज्ञेयम्” ऐसे कठोर निषेधकी भीति हृदयमें रखते हुवे.

जहां तक अक्षरब्रह्मके मूर्त और अमूर्त ऐसे दो रूपोंके स्वीकारको स्वामिनारायणीय सिद्धान्तका अनितरसाधारण स्वरूप कहा जा रहा है, तो वह तो इतरदर्शनोंके भलीभांति अवलोकन किये बिना किया गया विधान है. देखिये :

१. “परं ब्रह्मतु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहद् द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद् एकं तस्माद् विलक्षणम्” (सिद्धा.मुक्ता.३).

२. “प्रकृतिः पुरुषः च उभौ परमात्मा अभवत् पुरा यद् रूपं समधिष्ठाय तद् अक्षरम् उदीर्यते... प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः... प्रभुः वैकुण्ठवासी, लोको वैकुण्ठो, जीवजडाकारेण प्रादुर्भवति इति अर्थः. अतएव वैकुण्ठवासिनो मुक्ताः. ततोऽपि पुरुषोत्तमो महान्” (त.दी.नि.प्र.२।९८-१०२).

३. “ब्राह्मेण ब्रह्मसम्बन्धिना ब्रह्मणा भगवतैव स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन... शरीरेण... परप्राप्तेः मुक्तिरूपत्वाद् अक्षरब्रह्मणः पुरुषोत्तमायतनरूपत्वात् तदात्मकमेव शरीरं तस्य वक्तुम् उचितं नतु प्राकृतम्... यत्र कर्मवादी जैमिनिः एवं मनुते, अन्येषाम् एवम् अङ्गीकारे किम् आश्चर्यम् इति ज्ञापनाय तन्मतोपन्यासएव कृतः” (ब्र.सू.वाल्.भा.४।४।२).

४. “भगवदुक्तवर्णाश्रमधर्माचरणेन परोपकारादिधर्माचरणेन च वैष्णवान्न भक्षणेन अन्याश्रयत्यागपूर्वक भगवदाश्रयेन

प्रतिबन्धकपापनाशे भगवत्प्रसादे च क्रियमाणायाः श्रवणादिरूपायाः पोषे बीजभावदाह्ये व्यसनभावः पूर्णो भवति. ततो वृद्धौ क्रमेण गुणानां नाशो लीलासृष्टिस्थानां ‘दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परं सत्यं ज्ञानम् अनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्” (भाग.पुरा.१०।२५।१४-१५) इति वाक्याद् व्यापिवैकुण्ठलोकात्मकाऽक्षरानुभवः; तथा, अत्र पूर्वोक्तरीत्या सेवया... गुणनाशे ब्रह्मभावः” (प्रमे.रत्ना.फलविवे.).

एतावता सिद्ध होता है कि स्वामिनारायण मतमें प्रमेयरूप तत्त्वोंकी पांच संख्या जुटानेपर भी कोई असाधारण दार्शनिक प्रदान प्रकट होता नहीं है. अर्थात् इसमें कुछ भी स्वामिनारायणीय सिद्धान्तका अनूठापन झलक नहीं पाता. हम देख चुके हैं रामानुजीय वेदान्त और वाल्लभ वेदान्तके समन्वयका जो प्रयास श्रीसहजानन्द स्वामीने किया वह अवश्य नूतन विभावना थी. परन्तु इसे आधुनिक अनुगामी स्वीकारनेसे कतराना चाहते हैं. अतएव शिक्षापत्रीगत ब्रह्मरहस्यको वचनमृतके आधारपर समझनेका प्रयास करनेपरभी कोई रामानुजीय वेदान्तसे भी नूतन कोई बात उभर कर सामने आती नहीं है. क्योंकि-

“परमम् अक्षरं प्रकृतिविनिर्मुक्तम् आत्मस्वरूपं... अनात्मभूतम् आत्मनि सम्बध्यमानं भूतसूक्ष्मतद्वासनादिकं... तदुभयं प्राप्यतया त्याज्यतया च मुमुक्षुभिः ज्ञातव्यम्.”, “यः प्रयाति त्यजन् देहं सा याति परमां गतिम्’ इत्यत्र ‘परमगति’ शब्दनिर्दिष्टो अक्षरः प्रकृतिसंसर्गवियुक्तस्वरूपेण अवस्थितः आत्मा”... “अचित्संसर्गवियुक्तं स्वरूपेण अवस्थितं मुक्तस्वरूपं परमम् नियमनस्थानं, तच्च अपुनरावृत्तिरूपम्. अथवा प्रकाशवाची ‘धाम’ शब्दः”, “‘अक्षर’ शब्दनिर्दिष्टः कूटस्थः आत्मा अचित्संसर्गवियुक्तः स्वेन रूपेण अवस्थितो मुक्तात्मा”, “परं ब्रह्म उपासीनान् आत्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकम् उपासीनान् आतिवाहिको गणो नयति इति सिद्धम्”, “प्रत्यगात्मनः परं ज्योतिः उपसम्पद्य निवृत्तिरोधानस्य स्वरूपाविर्भावः... ब्राह्मेण अपहतपाप्मत्वादिना इति अर्थः” (गी.रा.भा.८।३,८।२१,१५।१६ तथा ब्र.सू.रा.भा.४।३।१५,४।४।५).

यही तो सब श्रीसहजानन्द स्वामी वचनमृतमें भी कह रहे हैं यथा-

“भगवान्को अतिप्रसन्न करनेकी इच्छा हो, तो एक उपाय यह है कि अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मोंके सम्बन्धमें अचलनिष्ठा, आत्मनिष्ठाकी अतिशय दृढ़ता, एकमात्र भगवान्के सिवा अन्य समस्त पदार्थोंके प्रति अरुचि और भगवान्में माहात्म्यसहित निष्कामभक्ति रखनी चाहिये. इन चारों साधनों द्वारा भगवान्को अतिशय प्रसन्नता होती है... ऐसा ऐकान्तिक भक्त देह त्याग कर तथा मायाके समस्त भावोंसे मुक्त हो कर अर्चिमार्ग द्वारा भगवान्के अक्षरधाम जाता है. उस अक्षरके दो स्वरूप हैं : इनमें एक तो निराकार एकरस चैतन्य है. उसे ‘चिदाकाश’ और ‘ब्रह्मधाम’ कहते हैं तथा दूसरे रूपसे पुरुषोत्तम नारायणकी सेवामें रहता है. उस अक्षरधाममें जानेवाला भक्त भी अक्षरब्रह्मके साधर्म्यभावको प्राप्त होता है और अखण्ड सेवामें रहता है. इस अक्षरधाममें श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम नारायण सदैव(नकि स्वामिनारायण पन्थके बहुजनमान्य न होनेकी अवधिमें ही) बिराजमान रहते हैं...” (वचना.ग.प्र.२०).

“ब्रह्म तो पुरुषोत्तम भगवान्का किरणरूप है किन्तु स्वयं भगवान् तो सदैव साकार मूर्ति ही हैं.”(ग.म.१०)

पता नहीं कि इस पन्थका आधुनिक अनुगामी बोचासणवासी दल वचनमृतकी रहस्यार्थदीपिकाका प्रामाण्य स्वीकारते हैं या नहीं? उन्हें जो कुछ मान्य हो परन्तु उसमें इस वचनमृतका रहस्य वस्तुतः अद्भुत प्रकट किया गया है. रहस्यार्थदीपिकाकार कहते हैं : “ननु भगवत्तेजोरूपस्य धाम्नो भगवति श्रीस्वामिनारायणे स्वामिसेवकभावो विद्यते नवा? इति चेत् सूर्यप्रकाशस्य सूर्ये वह्निज्वालायाः च वह्नौ यथा नैव अस्ति स्वामिसेवकभावः तथैव भगवत्तेजोरूपाक्षरधाम्नो भगवत्स्वामिनारायणे नैव अस्ति स्वामिसेवकभावः. यतः इदं तेजस्तु मूर्तेः कार्यभूतम् इति नैव अस्ति ततो भिन्नं किन्तु कार्यकारणभावः शरीरशरीरिभावः चैव विद्यते. ननु अक्षरधाम्नो

भगवद्भिन्नत्वाभावं चेत् तर्हि... तस्यैव द्वितीयरूपेण भगवत्सेवायां वर्तमानत्वं यद् उक्तं तत्र द्वितीयं रूपं कथं ज्ञेयम्? सेवा च का? इति चेद् भगवत्तेजसएव अक्षरधामत्वम्... तस्यैव च मूर्तिमन्मूलाक्षरशरीरित्वं तद्व्यापकत्वं तद्दृष्टत्वं तदात्मत्वं तदाधारत्वं च इति रहस्यार्थत्वात् च” (वच.रह.दीपि.ग.प्र.२२।४). मुझे तो रहस्यार्थदीपिकाके ऐसे विधानका अवलोकन करनेपर महाप्रभुके “प्रथमम् अक्षरम् आह... जीवानां चिद्रूपाणां चिद्रूपे स्वयोग्ये ब्रह्मणि प्रवेशः... ननु आनन्दांशतिरोभावे जीवत्वमेव स्याद्... इति आशङ्क्य आह... ब्रह्मकूटस्थाव्यक्तादिशब्दैः वाच्यो निरन्तरः... तथापि न पुरुषोत्तमाद् भिन्नतया अवस्थितः किन्तु निरन्तरएव. तस्यैव कारणत्वं ज्ञापयितुं तत्रैव कार्यस्थितिम् आह सर्वावरणयुक्तानि तस्मिन् अण्डानि कोटिशः मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितः” (त.दी.नि.प्र.२।१८-१०२) वचन याद आ जाते हैं. अब स्वयं रहस्यग्रन्थकी भी रहस्यार्थदीपिका अक्षरब्रह्मको भिन्नतया प्रकाशित न करती हो तो क्या करना यह भी हम यहां देख सकते हैं कि अक्षरब्रह्मको भगवत्तेजोरूप श्रीरामानुजाचार्यने भी स्वीकारा ही है. उसे व्यापिवैकुण्ठात्मक धामरूप महाप्रभुने और अधिक माना है, प्रकाशरूपताके साथ-साथ. इन दोनों मतोंको समन्वित कर एक नूतन विभावना मूलरूपेण स्वामिनारायणीय वेदान्तकी थी. आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्त किन्तु इनका त्याग करना चाहता है.

वैसे तो चित्रनिर्माणकेलिये कुड्यान्वेषण या कुड्यनिर्माण के प्रयोजनवश वचनमृतका पान करने जानेपर भी “उपनिषद् वेदान्त श्रुतियों और स्मृतियों में जिनको परोक्षरूपसे ब्रह्म ज्योतिःस्वरूप ज्ञानरूप तत्त्व सूक्ष्म निरञ्जन क्षेत्रज्ञ सर्वकारण परब्रह्म पुरुषोत्तम... बताया गया...” (वचना.ग.म.३९) इस वचनमृतमें ‘ब्रह्म’ और ‘पुरुषोत्तम’ पदोंको पर्यायवाची पानेपर रहस्यार्थदीपिका द्वारा प्रस्तुत व्याख्यान अकाण्डताण्डव तो नहीं लगता है. अतः न तो धामात्मक अमूर्त अक्षरब्रह्म कोई पृथक् तत्त्व सिद्ध होता है और न उस भगवद्भाममें पहुंचे मुक्तात्मगण ही कोई पृथक् सिद्ध होते हैं. क्योंकि वे भी तत्त्वत्रयीके अन्तर्गत जीवात्माकी बद्धावस्था और मुक्तावस्थारूप केवल अवस्थाभेद ही सिद्ध होंगे तत्त्वान्तर नहीं. रही बात ईश्वरतत्त्वकी तो जिसके बारेमें श्री सा.श्रु.जी कहते हैं-

“सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणम् अर्थवत्’... शिक्षापत्रीमें ‘ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशो असौ सर्वकर्मफलप्रदः’ यह विशेषणविशिष्ट पद क्यों दिया है? क्या परतन्त्र कोई ईश्वर है? यदि है तो यही एक भिन्न तत्त्वके रूपमें प्रतिष्ठित है. नहीं तो ‘ईश’पदका ‘स्वतन्त्र’ विशेषण निरर्थक है” (समा.पत्र.४.३.२).

कितने छोटेसे तिलका कितना लम्बा ताड़ यहां बनाया जा रहा है स्वयं श्री सा.श्रु.जीके “गुणातीतो अक्षरं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः” मंगलाचरणमें ही ‘अक्षरब्रह्म’ विशेष्यके साथ ‘गुणातीत’ विशेषण जोड़ा गया है, तो यहां भी क्यों पूछा नहीं जा सकता कि अक्षरब्रह्मके भी क्या गुणातीत और गुणान्तःपाती ऐसे दो प्रकार मंगलाचरणमें ध्वनित हो रहे हैं? यदि ‘हां’ तो पुनः एक ही ब्रह्मके दो अवस्थाभेद क्यों नहीं मान लेने? ऐसा मान लेनेपर अन्वयव्यतिरेकोपदेशरूप वचनमृत (ग.प्र.७) के साथ सुसंवाद भी हो जायेगा. वाल्लभ वेदान्त तो अपने प्रारम्भिक कालसे ही ब्रह्मके अन्वय-व्यतिरेकभावपर बहुत भार देता रहा है “तत्र ‘सर्वं भगवान् कथम्?’ इति आकांक्षायाम् अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम् इति. सर्वत्र भगवतो अन्वयो अस्ति-‘घटः सन्’-‘पटः सन्’, ‘भासते’ इति, ‘प्रियम्’ इति च सर्वत्रैव एकस्य अन्वयः. अन्यथा एकशब्दानुवृत्तिः प्रतीत्यनुवृत्तिः न स्यात्. विशेषेण अतिरिच्यते इति व्यतिरेकः... एवं सर्वत्र यत् सर्वं सत् सर्वस्माद् अतिरिच्यते तद् ब्रह्मैव” (सुबो.२।१।३५). अतः जैसे जीवात्मा मायागुणोंमें फंस कर गुणान्तःपाती होनेपर भी शास्त्रोपदिष्ट साधनाओंके अनुष्ठान द्वारा गुणातीत हो पाती है, वैसे ही परब्रह्म पुरुषोत्तम अपने लीलासंकल्पके अनुरूप गुणान्तःपाति और गुणातीत भी होता है. यह पुनः श्रीसहजानन्द स्वामीको अतिशय मान्य श्रीमद्भागवतके वचनोंका स्वारसिक वृत्तान्त है. अतः ऐसा स्वीकार लेनेपर वाल्लभ वेदान्तमें अन्तर्भूत हो जानेकी व्यर्थभीति भी सतानी तो नहीं चाहिये. क्योंकि स्वयं श्रीजीमहाराज भी पूर्वोक्त वचनमृतके उपक्रममें “शास्त्रोंमें जहां-जहां अध्यात्मवार्ता आती है, उसे कोई समझ नहीं पाता और भ्रान्ति हो जाती है. इसलिये हम अध्यात्मवार्ताके यथार्थ स्वरूपका वर्णन करते हैं” (वचना.ग.प्र.७) ऐसा अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें इस धारणाकी महत्ता समझा ही रहे हैं. इसे परन्तु न माननी हो और न अक्षरब्रह्मको भी गुणातीत एवं गुणान्तःपाति यों उभयव्यपदेशार्ह ही मानना हो तो, जैसे यह विशेषण निरर्थक हो सकता है, ऐसे ही ‘स्वतन्त्र’ विशेषण भी क्यों निरर्थक हो नहीं सकता? यदि

सोचा जाये कि श्री सा.श्रु.जी निरर्थक विशेषणका प्रयोग कर सकते है परन्तु श्रीसहजानन्द स्वामी नहीं, तो जब वे “शास्त्रसम्मताः सदाशिषः”- “मनसेप्सितानां सुखानाम्” (शिक्षाप.६-२१२) वचनोंमें ‘शास्त्रसम्मत’ और ‘मनसेप्सितानां’ विशेषणोंसे विशिष्ट आशिष और सुख की बात कह रहे हैं, तो क्या श्रीजीमहाराज शास्त्रसे असम्मत आशिष भी अपने भक्तोंको कभी-कभी देते रहते थे क्या? अथवा सुख भी क्या मनोभीप्सित और मनोनभीप्सित ऐसे दो तरहके स्वामिनारायणीय सिद्धान्तमें कहीं दरसाये गये हैं क्या? वैसे श्री सा.श्रु.जी सम्भवतः विशेषणको एकविध ही मानते लगते हैं. अन्यथा विशेषण तो व्यावर्तक विधेय और हेतुगर्भ यों तीन प्रकारके माने गये हैं. अतः प्रत्येक विशेषणविशिष्ट उल्लेखमें इतरव्यावर्तनरूप कुड्चकी खोज अनिवार्य नहीं होती “स कीचकैः मारुतपूर्णरन्ध्रैः” (रघुवं.२।१२) इस कालीदासके वर्णनमें ‘मारुतपूर्णरन्ध्र’ विशेषण जैसे किचकोंका हेतुगर्भ विशेषण है, वैसे ही ‘स्वतन्त्र’ विशेषण ईश्वरका भी हेतुगर्भ विशेषण क्यों नहीं हो सकता? शैव मतमें जैसे “पाशबद्धः पशुः ज्ञेयः पाशमुक्तः सदाशिषः” कहा तद्वत् एक ही ईश्वर अवस्थाभेदवश आत्मलीलया स्वतन्त्र और परतन्त्र उभयविध क्यों नहीं हो सकता?

श्रीसहजानन्द स्वामीके सर्वकारणकारणरूप उपास्य इष्टदेव श्रीकृष्णको, अक्षरधामके स्वामी होनेके पदसे च्युत कर स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीको उस पदपर अभिषिक्त कर देनेको ही तो कहीं यह सारा युक्तिप्रपञ्च रचा नहीं जा रहा है सचाई यदि यही हो तो शिक्षापत्रीके ही केवल नहीं प्रत्युत वचनमृतके अवलोकन करनेपर भी कितना निजाचार्योपदेशके प्रति आधुनिक अनुगामिओंका निरादरका भाव प्रकट है, यह देख लेना भी उचित होगा.

उससे भी पहले यह एक और स्पष्टीकरण मुझे आवश्यक लगता है कि यह वैकुण्ठ-गोलोक आदि सभी धामोंसे ऊपर जो अक्षरधाम (वस्तुतः तो वचनमृतका प्रामाण्य निःसन्दिग्ध हो तो “मायाके तमसे परे जो गोलोक है उसके मध्यभागमें स्थित अक्षरधाम...” (वचना.व.१८) ऐसे पदप्रयोगवश कुछ दूसरा ही चित्र उभरता है) कहा जा रहा है उसके स्वामी होनेके पदपर श्रीसहजानन्द स्वामीको अभिषिक्त करनेके श्रद्धातिरेककी मानसिकता भारतीय धर्म-सम्प्रदायोंके इतिहासमें कोई नूतन अध्याय या नूतन रहस्यकथा नहीं है. वह तो अतिसाधारण या

सर्वसाधारण सदाचारकी केवल कथा है। इसीमें किन्तु एक रहस्य यह अवश्य अन्तर्निगूह है जो सर्वमूल श्रुतिवचनने यथायथ ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-संन्यास यों चारों आश्रमिओंको एक साधारण सदाचारके रूपमें “**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव**” (तैत्ति.उप.१।११) समझाया है। यहां माताआदिके साथ “**आचार्यो देवो भवति**” ऐसा इतरनिरपेक्ष देवत्व नहीं कहा। अर्थात् आचार्यको उद्देश्य बना कर देवत्वका विधान करनेके बजाय “**आचार्यो देवो यस्मै यस्य वा**” यों बहुव्रीहीके प्रयोग द्वारा शिष्यसापेक्ष देवत्व ही दिखलाया है।

सहज सम्भव है कि सच्छास्त्रकी इस पुरातन परिपाटिके अनुसरणार्थ श्रीसहजानन्दजी भी अपनी अक्षरधामस्वामिताका उपदेश कर रहे होंगे। सच्छास्त्रोंमें उनकी अतिशय धर्मनिष्ठाके आधारपर “स्वयं उनके पुरुषोत्तम होने”के विधानकी यह व्याख्या उपपन्न होती है। परन्तु जहां वसुदेव-देवकीसुत श्रीकृष्णको “अक्षरधामके अधिपति पुरुषोत्तम” कहा गया है वहां उनके श्रीमुखसे निकले वचनोंको ही उद्धृत किया गया होनेसे उसकी अन्यथोपपत्ति शक्य ही नहीं, यदि वाक्यार्थमीमांसाका लेशमात्र भी ज्ञान हो तो। फिरभी वचनमृतके श्रोताओंने श्रद्धाजाड्यवश अन्यथार्थ ही विचारा खैर, श्रुतिके अलावा स्मृतिओंमें भी ऐसी सावधानी “**आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः**”-“**आचार्यो ब्रह्मलोकेशः**” (मनुस्मृ.२।२२६-४।१८२) जैसे वचनोंमें बरती गयी है। क्योंकि पिता-पुत्रभावकी तरह आचार्य-शिष्यभाव भी इतरेतरसापेक्ष ही होता है। देवदत्तरूप शिष्यका यज्ञदत्त आचार्य आवश्यक नहीं कि ब्रह्मदत्तकेलिये भी आचार्य ही हो। अतएव यही विवेक श्रीमद्भागवतपुराणमें भी “**आचार्य मां विजानीयाद् नावमन्येत कर्हिचित् न मर्त्यबुद्ध्या असूयेत सर्वदेवमयो गुरुः**”-“**आचार्यचैत्यवपुषा स्वर्गतिं व्यनक्ति**” (भाग.पुरा.११।१७।२७-तत्रै.११।२९।६) जैसे उपदेशोंमें मिलता है। यहां भी लक्ष्यमें रखने लायक बात यही है कि ‘ब्रह्म’ न कह ‘ब्रह्ममूर्ति’ कहा एवं “आचार्यो अहं भवामि” न कह कर “मां विजानीयाद्” कहा। इसी तरह “क्षराक्षरातीतवपुषा स्वर्गतिं व्यनक्ति” न कह कर “चैत्यवपुषा स्वर्गतिं व्यनक्ति” कहा।

इसे यथोपदेश लेनेके बजाय जिस देव, ब्रह्म, क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम, श्रीकृष्ण, श्रीहरि, घनश्याम, या नीलकण्ठ आदि देवोंकी बुद्धि आचार्यमें करनेको कहा जाय, स्वयं उस घनश्याम या नीलकण्ठ देवके बारेमें अथवा तो ब्रह्म या क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तमके बारेमें लोकश्रद्धाके निर्मूलन द्वारा स्वयं आचार्यको उस तरहसे मान लेना या बिरदाने लग जाना सर्वथा अनुचित है जिस संविधानके प्रावधानविशेष द्वारा किसी व्यक्ति या समुदाय को मानवीय गौरवानुरूप अधिकार किसी राष्ट्रमें रहनेका मिलता हो उसे पा लेनेके बाद राष्ट्रीय संविधानकी अवहेलना करनेको अपने नियमोंकी सर्वोपरिता दिखाने जैसी यह उद्दामवादी कूटनीति खेली जाती लगती है अस्तु।

स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीजी इन सच्छास्त्रोपदिष्ट आदर्शोंमें कितनी अविचल निष्ठा रखते थे यह तो उनके न केवल शिक्षापत्री प्रत्युत वचनमृतमें भी बच पाये अनेकानेक वचनोंके आधारपर निःसंदिग्धतया प्रकट होता ही है। सर्वप्रथम तो शिक्षापत्री जैसे पत्र अपने अनुगामिओंको उन्हें क्यों लिखने पड़े? इसके पीछे रहे कारणोंके जिज्ञास्य होनेपर यह वर्णन मिलता है :

“वे गादीतकियापर उदास बैठ गये। उन्होंने न तो किसीको बुलाया और न किसीके सामने देखा... उसी स्थितिमें उनके नेत्रोंसे आंसू पड़ने लगे... इसके पश्चात् बोले ‘हमने शुष्कज्ञानियोंका मत जाननेकेलिये उनके शास्त्रका श्रवण किया। उसके श्रवणमात्रसे हमारे अन्तःकरणमें उद्विग्नता हो गयी, क्योंकि शुष्कवेदान्तके श्रवणसे जीवकी बुद्धिमेंसे भगवान्की उपासनाकी भावना लुप्त हो जाती है... इसलिये अन्य देवोंकी भी उपासना हो जाती है... उनकी बुद्धि बिलकुल भ्रष्ट हो जाती है...’ इस प्रकार वे बहुत दैर तक उदास रहे और अपने हाथोंसे नेत्रोंके आंसू पोंछ कर ऐसा बोले कि भगवद्गीतापर जो रामानुजभाष्य है उसकी कथा सुन कर रात्रिमें सो रहे थे तब हमने एक स्वप्न देखा कि हम गोलोकमें गये, जहां भगवान्(नहीं कि स्वयं)के अनन्त पार्षदोंको देखा... हमें ऐसा विचार हुआ कि परमेश्वरकी ऐसी प्रेमभक्ति तथा परमेश्वर(नहीं कि स्वयं)की ऐसी उपासनाका परित्याग करके जो

मिथ्याज्ञानी ऐसा मानता है कि हम भगवान् हैं वह महादुष्ट है... जिस प्रकार धर्म तथा भगवान् की भक्तिसे किसी भी तरह विचलित न हों तथा अपने इष्टदेव श्रीकृष्णनारायण(नहीं कि स्वयं)से किसी भी प्रकार बुद्धि डिगे नहीं, इस आशयका एक पत्र लिख कर देशभरके सत्संगियोंके पास भेजें... जो पुरुष हमारी इस आज्ञाका दृढ़तापूर्वक पालन करेगा, उसको श्रीकृष्णनारायण(नहीं कि स्वयं)में नारद जैसी दृढ़ भक्ति हो जायेगी... जो हमारे इस वचनका उल्लंघन करेंगे, उनकी भक्ति वेश्या जैसी व्यभिचारिणी हो जायेगी' संवत् १८७८में मार्गशीर्ष कृष्ण चतुर्दशीको यह पत्र लिखा'' (वचना.ग.म.१९).

अब पता नहीं चलता कि वचनानामृतोंको सारतम माननेवाले आधुनिक अनुगामी इनकी शिक्षापत्रीको "असाररूपा अल्पसाररूपा साररूपा अथवा सारतररूपा" के बीच क्या मानते हैं अरे हां श्रुति-सूत्र जिनमें अक्षराधिपति पुरुषोत्तमका निरूपण मिलता नहीं उसे असाररूप, गीता-भागवतमें मिलता होनेपर भी श्रीसहजानन्द स्वामीका अक्षराधिपतिके रूपमें वर्णन न मिलता होनेसे उन्हें अल्पसाररूप, इन सच्छास्त्रोंके सारतया शिक्षापत्रीको स्वयं श्रीजीमहाराज बिरदाते होनेसे उसे साररूप; और, सारतररूप जो भी कोई अन्य ग्रन्थ हो, इस अर्थमें तो कहीं वचनानामृतको सारतम नहीं माना जा रहा है

खैर, जिस-किसी अर्थमें वह माना जाता हो इतना तो निश्चित है कि इस सारतम उपदेशको भी श्री सा.श्रु.जी अपने समाधानपत्रके मंगलाचरणमें पुनः अस्वीकार कर रहे हैं- "रामकृष्णाद्यवताराणां कारणं परमेश्वरम्" विधान द्वारा. और अतएव आज भी शायद श्रीसहजानन्दजीके मनको उद्विग्न, मुखको उदास और नयनोंको अश्रुपरिपूरित ही कर रहे हैं

इस सारतम वचनकी तुलनामें ही कुछ अन्य भी सारतम वचन देखने लायक हैं :

१. "जो यह एकरस तेज है, उसे 'ब्रह्म' तथा 'अक्षरधाम' कहते हैं. उस प्रकाशमें जो भगवान्की मूर्ति दिखायी पड़ती है, उसे 'आत्माका तत्त्व' 'परब्रह्म' तथा 'पुरुषोत्तम' कहते हैं. वे ही भगवान् अपनी इच्छासे जीवोंका कल्याण करनेकेलिये रामकृष्णादिके रूप धारण करके युग-युगमें प्रकट होते हैं. यद्यपि वे भगवान् इस लोकमें मनुष्यसदृश दिखायी पड़ते हैं तथापि वे मनुष्यवत् नहीं हैं. वे तो अक्षरधामके स्वामी हैं. यही बात श्रीकृष्ण भगवान्(नहीं कि श्रीजीमहाराज)ने गीतामें कही है:- 'न तद् भासयते सूर्यः... तद् धाम परमं मम' अतएव श्रीकृष्ण भगवान् यद्यपि मनुष्यवत् दिखायी पड़ते थे तथापि वे(नहीं कि श्रीजीमहाराज) अक्षरातीत कैवल्यमूर्ति ही हैं... इस प्रकार श्रीजीमहाराजने अपने भक्तजनोंको शिक्षा देनेकेलिये अपने(यह 'अपने' पद यहां अचानक कैसे आ गया?) पुरुषोत्तम होनेकी वार्ता परोक्षरूपमें कही. यह बात सुन कर समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों ने यह मान लिया(अर्थात् श्रीजीने कहा हो या न कहा हो) कि 'तेजपुंजमें जिस मूर्तिके रहनेकी बात कही गयी है उसके प्रत्यक्ष प्रमाण ये श्रीजीमहाराज हैं.(वचना.ग.म.१३).

२. "श्रीजीमहाराजने बड़े-बड़े परमहंसोंसे पूछा कि हमने श्रीमद्भागवतके पञ्चमस्कन्ध दशमस्कन्ध का अतिशय प्रतिपादन किया... दशमस्कन्धका रहस्य यह है कि उपनिषद् वेदान्त श्रुतियों और स्मृतियों में जिनको परोक्षरूपसे ब्रह्म ज्योतिःस्वरूप ज्ञानरूप तत्त्व सूक्ष्म निरञ्जन क्षेत्रज्ञ सर्वकारण परब्रह्म पुरुषोत्तम वासुदेव विष्णु नारायण और निर्गुण नामोंसे बताया गया वे ही ये प्रत्यक्ष वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण वासुदेव हैं" (वचना.ग.म.३९).

३. "अन्य अवतारोंके समान श्रीकृष्ण भगवान् अवतार नहीं अवतारी(तो श्रीजीमहाराके अवतार क्यों मानते हो?) हैं. ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान् हैं वे अपने इष्टदेव हैं. उन श्रीकृष्ण भगवान्(नहीं कि श्रीजीमहाराज)के चरित्रोंका सम्पूर्ण वर्णन श्रीमद्भागवतपुराणके दशमस्कन्ध किया गया है. इसलिये हमने

अपने उद्धवसम्प्रदायमें दशमस्कन्धको अत्यन्त प्रामाणिक माना है... भगवान् श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम(नहीं कि श्रीजीमहाराज) तो राजाधिराज तथा अखण्डमूर्ति हैं. वे(नहीं कि श्रीजीमहाराज) अपने अक्षरधामरूपी सिंहासनपर सदैव(नहीं कि श्रीसहजानन्द स्वामीके प्रसिद्ध होनेसे पूर्व ही) बिराजमान रहते हैं”(वचना.ग.म.६४).

४. “सत्संगिजनको कौन-कौन सी वार्ता आवश्यक रूपसे जान रखनी चाहिये... पहली बात... अपना उद्धवसम्प्रदाय है... दूसरी बात... गुरुपरम्पराका ज्ञान... रामानन्दस्वामीके गुरु रामानुजाचार्य हैं उन रामानन्दस्वामीके हम शिष्य हैं, ऐसी गुरुपरम्परा जाननी... तीसरी बात... हमारे सम्प्रदायमें अतिप्रमाणरूप जो शास्त्र हैं... वेद व्याससूत्र श्रीमद्भागवतपुराण महाभारतका विष्णुसहस्रनाम भगवद्गीता विदुरनीति स्कन्दपुराणके विष्णुखण्डका वासुदेवमाहात्म्य याज्ञवल्क्यस्मृति... चौथी बात... सत्संगिजनोंके नियम... पांचवी बात...अपने इष्टदेव श्रीकृष्णभगवान्... मायाके तमसे परे जो गोलोक है उसके मध्यभागमें स्थित अक्षरधाममें श्रीकृष्ण भगवान्... राधिकाजी एवं लक्ष्मीजी के सहित...”(वचना.व.१८)

आश्चर्य होता है कि इन सारतम उपदेशोंमें न जाने कितनी बार अपरोक्षरूपमें भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णको ही अक्षरधामका स्वामी माना है :

“श्रीकृष्ण जैसा सर्वशक्तिसम्पन्न कोई अन्य अवतार नहीं हुवा. क्योंकि अन्य जो सब उनकी अनन्त मूर्तियां भिन्न-भिन्न रूपसे रही हैं, उन सबका भाव श्रीकृष्ण भगवान्(नहीं कि श्रीजीमहाराज)ने अपने स्वरूपमें दिखाया... सर्वप्रथम... देवकीकी कोखसे जन्म लिया तब चतुर्भुजरूपमें... लक्ष्मीपति वैकुण्ठनाथका भाव... माता यशोदाको अपने मुखमें विश्वरूप दिखाया इसमें... सहस्रशीर्षरूप द्वारा अनिरुद्धभाव... अक्रुरको यमुनाकी धारामें शेषशायिभाव... अर्जुनको विश्वरूप दिखलाया कि ‘पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः’ इस प्रकार अनन्त ब्रह्माण्ड दिखला कर पुरुषोत्तमभाव बताया तथा स्वयं

श्रीकृष्ण(नहीं कि श्रीजीमहाराज)ने कहा कि ‘यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमो अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः’ इस प्रकार श्रीकृष्णने स्वयं अपना पुरुषोत्तमभाव दिखाया. गोलोकवासी राधिकासहित श्रीकृष्ण भी स्वयमेव थे... श्वेतद्वीपवासी वासुदेवने स्वयं यह अवतार धारण किया था... इसलिये यही अवतार(नहीं कि श्रीजीमहाराज) सर्वोपरि है... श्रीकृष्णके स्वरूपमें जिसकी अचलमति सदैव बनी रहती है, वह मति कभी भी व्यभिचारके दलदलमें नहीं फंसती. यदि किसी कुसंगवश कभी कुछ अनुचित आचरण हो गया हो तो भी उसका कल्याणमार्गसे पतन नहीं होता. उसका कल्याण ही होता है. इसलिये आप सब परमहंस हरिभक्त भी यदि इस प्रकार भगवान्(नहीं कि श्रीजीमहाराज)में उपासनाकी दृढ़ता रखते रहेंगे तो कदाचित् कोई अनुचित आचरण हो जानेपर भी अन्तमें कल्याण ही होगा. (इन वचनोंको सुन कर कोई भी औसत बुद्धिवाला विवेचक भी अधिकाधिक श्रीसहजानन्द स्वामीको श्रीकृष्णका अवतार मान पायेगा परन्तु श्रीसहजानन्दोपास्य भगवान्के प्रति निगूढ द्वेष या असूया के भावके कारण वचनामृतके श्रोताओंने जो निर्णय लिया वह यों है) इस वार्ताको सुन कर समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों ने श्रीजीमहाराजमें सर्वकारणभाव जान कर उपासनाकी दृढ़ता की”(वचना.पं.६).

अतः यहां “एकग्रन्थशकलास्वारस्यं बहुग्रन्थस्वारस्याय ग्राह्यं” न्याय उचित होता परन्तु वह न भी माना जाये तो भी इस सन्दर्भमें यह तो उल्लेखनीय ही होता है कि यदि इस वचनामृतमें ‘श्रीकृष्ण’ नामके प्रयोग द्वारा श्रीसहजानन्द स्वामी स्वयं अपनी अक्षरधामाधीशता इंगित करना चाहते हों तो “स्वयं श्रीकृष्णने कहा कि ‘यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमो अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः’ इस प्रकार श्रीकृष्णने स्वयं अपना पुरुषोत्तमभाव दिखाया. गोलोकवासी राधिकासहित श्रीकृष्ण भी वे स्वयमेव थे” वचनके आधारपर अक्षरब्रह्मरूप धाममें केवल श्रीगुणातीतानन्द स्वामी या श्रीमुक्तानन्द स्वामिसदृश

पुरुष ही रहते हैं स्त्रीजन नहीं, इस धारणाको तिलांजली देनी पड़ेगी अन्यथा श्रीसहजानन्द स्वामीपर मिथ्याभाषणका आरोप लग जायेगा

जितनी बार भगवान् श्रीकृष्णको अक्षरधामका स्वामी अपरोक्ष निरूपण द्वारा माना, उसकी तुलनामें तो बहुत कम बार श्रीसहजानन्द स्वामीने स्वयं अपने बारेमें अक्षरधामके स्वामी होनेका भाव परोक्षरूपमें इंगित किया है. फिरभी श्रीसहजानन्द स्वामीके इष्टदेव और उनके साक्षात् उपदेशोंमें ऐकान्तिकी अश्रद्धाके कारण ही उन्हें गम्भीरताके साथ न तो समझने और न स्वीकारने की ही मनोवृत्ति वचनामृतके श्रोताओं और संकलनकारों में प्रकट होती है. अतः केवल चार-छह बार जो परोक्षरूपमें कहा उसका झंडा ऊंचे फहरा दिया जाता है श्री सा.श्रु.जीका कहना है “शिक्षापत्री भगवान् स्वामिनारायणने लिखी है इसलिये प्रामाणिक है. इसी प्रकार वचनामृतका ग्रन्थ भी संवत् १८७७ मार्गशीर्ष शुक्ला तृतीया... के दिन भगवान् स्वामिनारायणने स्वयं देखा... तब ११५ वचनामृत संकलित थे... इनके पश्चाद्भव वचनामृत भी भी इन ११५ की पद्धतिसे प्राप्त होनेसे इनका भी सर्वतोमुख प्रामाण्य स्वामिनारायण सम्प्रदायमें है. बल्कि तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें शिक्षापत्रीसे भी अधिक प्रामाण्य है” (समा.पत्र.४.३.२).

मुझे लगता है कि जिन ११५वें वचनामृतके बाद इसी पद्धतिसे वचनामृत संकलित होनेकी बात श्री सा.श्रु.जी कह रहे हैं, उन बादवाले वचनामृतोंमें ही शिक्षापत्रीसे विरुद्ध वचन अधिक मिलते हैं. अतः सहज सम्भव है कि वह श्रीजीमाहाराजके अवलोकन न कर पानेके कारण संकलनकारोंकी मनमानी छूट लेनेके कारण ही हुवा होगा. इस एक तथ्यको जांचनेपर ही अन्य भी विरोध श्रीजीके अनवलोकनके परिणाम क्यों नहीं माने जा सकते? यदि श्रीसहजानन्दजी स्वामीके रामानुज सम्प्रदायके दीक्षित अनुगामी अनुगामी होनेकी कथा अप्रामाणिक हो तो वह भी ११५वें वचनामृतके बाद आते वचनामृत होनेसे रामानुजसम्प्रदायकी प्रसिद्धिका लाभ ले लेनेको ही संकलनकारोंद्वारा प्रक्षिप्त क्यों नहीं मान लेनी चाहिये? ऐसा मान कर भी चलें पर इसमें बाधा एक ही दिखलायी देती है कि तब स्वयंके अक्षरब्रह्मधामके स्वामी होनेके भी वचनामृत सम्भवतः ११५वें वचनामृतके बाद ही अधिक मुखरित हुवे हैं और इन्हें अप्रामाणिक कह पाना अब दुःशक बन गया होनेसे मौनसेवन किया जा रहा है वैसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

तथ्य यह है कि जिन वचनामृतोंके बारेमें श्री सा.श्रु.जी “सर्वतोमुख प्रामाण्य स्वामिनारायण सम्प्रदायमें है. बल्कि तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें शिक्षापत्रीसे भी अधिक प्रामाण्य है” (समा.पत्र.४.३.२) ऐसा बढ़ा-चढ़ा दावा प्रस्तुत कर रहे हैं वे वचनामृत स्वयं “हमारे आश्रित... को हमारी लिखी हुयी शिक्षापत्रीका नित्य पाठ करना चाहिये. जिसे पढ़ना न आता हो उसे नित्य शिक्षापत्रीका श्रवण करना चाहिये. जिसे उसका श्रवण करनेका योग नहीं आवे, उसे प्रतिदिन शिक्षापत्रीकी पूजा करनी चाहिये. इस प्रकार हमने शिक्षापत्रीमें भी लिखा है. यदि किसीको इन तीनों नियमोंका पालन करनेमें विघ्न पड़ जाये उसे तो उसे एक उपवास कर लेना चाहिये” (वचना.ग.अं.१) यों शिक्षापत्रीकी सर्वातिशायिता इन शब्दोंमें प्रतिपादित कर रहे हैं. मुझे यह अवगत नहीं कि ऐसी सर्वातिशायिता वचनामृतकी कहां उपदिष्ट हुयी है? और वह कहीं उपदिष्ट न हो तो यह स्वयंमें इस तथ्यका प्रमाण है कि श्रीसहजानन्द स्वामीके आधुनिक अनुगामियोंका उनके उपदेशमें श्रद्धाका कैसा करुण हास हुवा है

यद्यपि शिक्षापत्री और वचनामृत दोनोंमें ही श्रीसहजानन्द स्वामी स्वयंका रामानुजसम्प्रदायके अनुगामी होना भारपूर्वक घोषित कर रहे हैं, फिरभी श्री सा.श्रु.जी अपने समाधानपत्रमें न केवल अनेक तथाकथित साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके आधारपर बल्कि वचनामृतकी भी कोई सद्योलब्ध प्राचीन() हस्तप्रतिके आधारपर भी श्रीजीमाहाराजके रामानुजमतानुगामी होनेकी कथाको अप्रामाणिक मान रहे हैं (दृष्ट. : समा.पत्र.४.४-४.४.१).

यह यदि ऐतिहासिक तथ्य हो तो फिर स्वयं श्री सा.श्रु.जीकी घोषणा कि “वचनामृतका प्रामाण्य स्वामिनारायण सम्प्रदायमें निःसन्दिग्धतया स्वीकृत है... वचनामृतमें अप्रामाण्यका गन्ध देखेंगे तब तो वैष्णव सम्प्रदायके मान्य भगवद्गीता श्रीमद्भागवत इत्यादि ग्रन्थ भी अप्रामाणिकताके लक्ष्य बन जायेंगे... वचनामृतके सम्पादक इतने निःस्पृह और प्रामाणिक थे इसलिये ग्रन्थ निःसन्देह प्रामाणिक ही है” (समा.पत्र.४.३.२) इस विधानको क्या निरस्त मान लेना? क्योंकि ऐसी स्थितिमें या तो श्रीसहजानन्दजीका अपने-आपको रामानुजके शिष्यके रूपमें बिरदाना केवल लोकप्रतारणार्थ मिथ्याभाषण सिद्ध होगा. या मनुष्यभावोचित उनमें भी विस्मृतिशीलता सिद्ध होगी. अथवा

गुरुरूप रामानन्दस्वामीको रात्रिकालीन स्वप्न तो शिष्यरूप श्रीसहजानन्द स्वामीजीको क्या दिवास्वप्न देखनेके मानसिकरोगका शिकार मानना? मुझे तो ऐसी कल्पना करनेमें भी अपराधबोध होता है

मैंने वचनामृतकी प्रामाणिकताके बारेमें सन्देह प्रकट किया तो वह मेरा यदि स्वामिनारायण सम्प्रदायकी परम्पराके बारेमें अज्ञानका प्रदर्शन हो तो क्यों श्री सा.श्रु.जी स्वामिनारायणसम्प्रदायके परम्पराविद् होनेपर भी मेरी तरह ही वचनामृतके प्रामाण्यमें सन्देह कर रहे हैं? यदि वस्तुतः आर्ष ग्रन्थागारमें उपलब्ध वचनामृतकी कोई प्राचीन हस्तप्रति उन्होंने खोज ली है तो क्या उसके आधारपर वे उपलब्ध वचनामृतके कलेवरको अप्रामाणिक सिद्ध कर नहीं रहे हैं? इसे सच मान कर चलें तो भी मन तो शंकाकुल हो ही जाता है कि भविष्यमें इससे भी अधिक प्रामाणिक कोई प्राचीन हस्तप्रति किसी अन्य खोजीको मिल नहीं जायेगी इसकी क्या निश्चिन्ता हो सकती है कि उस प्राचीनतम हस्तप्रतिमें ऐसा भी कोई उल्लेख कहीं मिल जाये कि उपलब्ध सारेके सारे वचनामृत श्रीसहजानन्दजीके शिष्योंने मनगढ़ंत लिख लिये हैं. ऐसा श्रीसहजानन्द स्वामीजीका वचनामृत मिल नहीं सकता, इसकी निश्चिन्ता अब कैसे पानी? अतः वचनामृतकी इस अधुनालब्ध किसी हस्तलिखित प्रतिके आधारपर ऐसे प्रसंगोंको मिथ्यावचन मानने पड़ते हों तो प्रचलित वचनामृतग्रन्थका प्रामाण्य या तो संकलनकर्ताओंके मिथ्याभाषणके दोषवश अथवा उत्तरकालीन अनुलिपिकारोंके मिथ्याप्रक्षेपके दोषवश सन्दिग्ध तो बन ही जायेगा

अतः श्री सा.श्रु.जीका “यहां रामानन्दस्वामीके दीक्षागुरु रामानुजाचार्य थे ऐसी कोई बात नहीं है” (समा.पत्र.४.४) विधान भी सन्देहकी परिधिसे बाहर रह नहीं पाता है. किञ्चित् धैर्यके साथ इस विषयमें यह विचारणीय बनता है कि क्या कारण है कि विगत दो सो वर्षोंसे अतिप्रचारित ‘शिक्षापत्री’ और ‘वचनामृत’ ग्रन्थोंकी ही प्राचीन हस्तप्रति अब मिलनी शुरु हो गयी हैं? इनमें इन दोनों ग्रन्थोंके वर्तमान स्वरूप और अभिमत से पृथक् स्वरूप और अभिमत मिलने लगी है. क्या कारण है कि ‘गुरुप्रसाद’ ‘सत्संगिजीवन’ ‘सत्संगिभूषण’ ‘हरिचरित्रामृतसागर’ ‘भक्तचिन्तामणि’ ‘हरिलीलाकल्पतरु’ आदि ग्रन्थ जो श्रीसहजानन्द स्वामीजीके किसी पूर्ववर्ती या किसी उत्तरवर्ती सन्तोंने लिखे हैं, उनमें जो स्वयं श्रीजीमहाराजने

जो कहा-लिखा उसे ही सुधारनेवाली अथवा उनका अन्यथा आशय दिखलानेवाली विधान मिलने लगे हैं (दृष्ट. : समा.पत्र.५.३) श्री सा.श्रु.जी कहते हैं कि “परमहंसोंके ग्रन्थोंकी प्रकाशनयोजनामें भी विशिष्टाद्वैती विद्वानोंकी सहायताके कारण भी विशिष्टाद्वैतका माहात्म्य ज्यादा प्रक्षिप्त हो गया” (समा.पत्र. ‘विशिष्टाद्वैत अभिमत एक शिष्टाचार’ शीर्षक). इसका मतलब एक तो यह हो सकता श्रीजीमहाराज और उनके अनुगामिओंने अपने ग्रन्थ स्वयं न लिख कर विशिष्टाद्वैती विद्वानोंको बुला कर लिखवाते रहे होंगे संस्कृतभाषाविद् न होनेके कारण. अतएव वे जब लिख रहे थे तब इतनी भी सावधानी ये असंस्कृतज्ञ बरत नहीं पाये कि ये भाडूती विद्वान् श्रीजीमहाराजका मत लिख रहे हैं या स्वयं श्रीरामानुजाचार्यका इतने विश्वासके अतिरेकके पीछे भी केवल श्रीजीमहाराजकी कोई न कोई कड़ी विशिष्टाद्वैतियोंके साथ जुड़ी होनेके तथ्यको पुनः उजागर कर देगी. अन्यथा अपने सम्प्रदायमें ग्रन्थलेखक विद्वानोंके अभावमें माध्व वाल्लभ चैतन्य या नैयायिक आदि विद्वानोंको भी एंगेज तो किया जा ही सकता था वैसे सचमुचमें यदि रामानुज विद्वानों द्वारा संस्कृत लिखवाये जानेकी आशंकाको सत्य मानते हैं तो श्रीरामानुजाचार्यको ‘सर्ववैष्णवराज’ न कह कर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके बारेमें ऐसे पदका प्रयोग भी विचारणीय बन जाता है.

अतः सिद्ध होता है कि अधुनालब्ध ग्रन्थोंके लेखक जिनकी बरातमें जुटे हैं, उस वरराजाके गीत गानेके बजाय, उसे ही प्रामाणिक वचनके उपदेशक होनेके घोड़ेपरसे नीचे पटक कर, अपने वचनोंके प्रामाणिक होनेके दावेके घोड़ेपर सवार हो जाना चाहते हैं इन ग्रन्थोंकी कोई प्राचीन हस्तप्रति क्यों मिल नहीं रही हैं? इसका मतलब मतप्रवर्तक उपदेशकके वचनोंकी तुलनामें तत्पूर्ववर्ती या तदुत्तरवर्ती मतानुगामियोंके वचनोंमें अधिक विश्वसनीयता आधुनिक मतानुगामी मान रहे हैं

निष्कर्षतया यह स्पष्टीकरण दे देना मेरेलिये उचित होगा कि स्वामिनारायण मतमें तत्त्वत्रयी मानी जाय या तत्त्वपञ्चक एतावता इस विमर्श द्वारा जो मुद्दा मैं उठाना चाहता हूं उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता. क्योंकि स्वयं विशिष्टाद्वैतवेदान्तमें भी सिद्धित्रयकार तत्त्वत्रयी मान कर चले हैं. परन्तु श्रीवेदान्तदेशिक स्वयं ‘न्यायसिद्धाञ्जन’ नामक ग्रन्थमें “अशेषचिदचित्प्रकारं ब्रह्म एकमेव तत्त्वम्” (न्या.सि.जडद्र.परि.) जैसे प्रतिपादित करते हैं वैसे ही ‘तत्त्वमुक्ताकलाप’ नामक

ग्रन्थमें “द्रव्याऽद्रव्यप्रभेदाद् मितम् उभयविधः तद्विदस् तत्त्वम् आहुः. द्रव्यं द्वेषा विभक्तं क-१/जडम् क-२/अजडम् इति. प्राच्यम् क-१/अ-आ अव्यक्तकालौ, अन्त्यं क-२/अप्रत्यक् क-२/आपराक् च. प्रथमम् उभयधा तत्र क-२/अ/१-२ जीवेशभेदात्. क-२/आ-१ नित्या भूतिः क-२/आ-२ मतिः च इति अपरम् इह जडाम् आदिमां केचिद् आहुः” (तत्त्वमु.१।६) यों सप्तविध तत्त्वोंकी परिगणना भी करते हैं. अतः स्वामिनारायण-सम्प्रदाय भी उनके अनुगामी होनेके बावजूद पञ्चविध तत्त्व-

क-१/अ अव्यक्त=माया, “‘माया’-‘ऽविद्या’दिशब्दैः प्रकृतिः अभिमता” (तत्त्वमु.३।४१) तुलनीय “श्रीजीमहाराजबोले कि जब जीव, जगत्के कारणीभूत पुरुष प्रकृति काल... तत्त्वोंको जान लेता है... मुक्त हो जाता है” (वचना.ग.प्र.११).

क-२/अ-१ जीव, “मुक्तौ देहाद्यभावे मुकुलितविषयो जक्षदादिप्रवादः तत्सत्त्वे च अशरीरश्रुतिविहतिः अतः का चिकित्सा इति चेत् न, इच्छातः स्याद् अवस्थाद्वयम् उभयविधश्रुत्यबाधाद् विमुक्तौ कर्मायत्तैः वियोगः परम् इह कथितः तस्य देवोपमस्य” (तत्त्वमु.२।६२) तुलनीय “जब इस जीवके अज्ञानकी निवृत्तिः हो जाती है तब इसका तीनों मायिक देहके साथ संग छूट जाता है बादमें यह जीव केवल चैतन्यसत्ताभाव रह जाता है. इसके पश्चात् भगवान्की इच्छासे ही इस जीवके लिये भगवान्की भूमि आदि आठ प्रकृतिसे भिन्न चैतन्यप्रकृतिजन्य देहका निर्माण होता है. उस देहसे युक्त हो कर वह भगवान्के धाममें रहता है” (वचना.ग.म.६६).

क-२/आ ईश=पुरुषोत्तम+ईश्वर, “युक्तिः प्रश्नोत्तरादेः नहि पुरुषभिदां बुद्धिभेदं च मुक्त्वा तस्माद् व्यूहादिभेदे कतिचनपुरुषाः स्युः परेण अनुबद्धाः तन्न; स्वच्छन्दलीलः स्वयम् अभिनयति स्वान्यतां सर्ववेदी...” (तत्त्वमु.३।७४) तुलनीय “जब श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनकी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेको... मायाके अन्धकारको... दूर कर भूमापुरुषसे ब्राह्मणके पुत्रको ले आये.

श्रीकृष्ण भगवान् दिव्यमूर्तिमान् थे... भगवान्की मूर्तिके प्रतापसे मायिक पदार्थ भी अमायिक बन गये. भगवान्के ऐसे स्वरूपको मूर्ख पुरुष मायिक समझता है. जबकि एकान्तिक सन्त भगवान्की मूर्तिको क्षरातीत तथा मूर्तिमान् पुरुषोत्तम भगवान्को ब्रह्मरूप अनन्तकोटिमुक्तों तथा ब्रह्मधाम की आत्मा मानता है” (वचना.ग.प्र.६६).

क-२/आ-१ नित्यभूति=नित्याक्षरधाम “तस्य अप्राकृतत्वम् आह स्थानम् इति श्रूयते ‘तद् विष्णोः परमं पदं पश्यन्ति सूरयः’ तद् इदं सदा पश्यत्सूरिविशिष्टस्थानविधानार्थम् इति वेदार्थसंग्रहे स्थापितम्” (तत्त्वमु.३।६१), “दशोत्तराधिकैः यत्र प्रविष्टः परमाणुवत् लक्ष्यते अन्तर्गतः च अन्ये कोटिशो अण्डराशयः तद् आहुः ‘अक्षरं ब्रह्म’ सर्वकारणकारणं विष्णोः धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः=अत्र मूलप्रकृतौ प्रविष्टः परमाणुः दृश्यते एवंविधः च अन्ये अण्डराशयो कोटिशः प्रविष्टाः परमाणुवद् दृश्यन्ते. सर्वेषां कारणानां महदादीनामपि कारणं मूलं प्रधानं महात्मनः पुरुषस्य विष्णोः धाम=शरीरम् आहुः, ‘यस्य अव्यक्तं शरीरम्’ इति श्रुतेः. एवं ... परमात्मनः कथं कालः प्रभुः स्याद्? इति आशयः” (भाग.वीरराघ.३।११।४०-४१) तुलनीय “‘भगवान्का धाम सनातन नित्य अप्राकृत सच्चिदानन्द अनन्त तथा अखण्ड है” (वचना.ग.प्र.१२).

क-२/आ-२ मतिके बारेमें तो श्रीवेदान्तदेशिक भी अपने एकदेशीके मतके अनुसार जड़ होनेकी बात कह रहे हैं सो वहां या जीवमें भी अन्तर्भाव शक्य है. सातवें अद्रव्यके अन्तर्गत तो अवर्गीकृत द्रव्यके गुणधर्मोंकी ही गणना की गयी होनेसे द्रव्योंके त्रिविध भेदोंमें अन्तर्भाव शक्यहैही.

इस तरह देखनेपर स्वामिनारायणीय तत्त्वपञ्चकवादी वेदान्तका तत्त्वसप्तकवादी रामानुजीय वेदान्तमें भी अन्तर्भाव सुखेन सोचा जा सकता होनेसे तत्त्वपञ्चकका

स्वीकार भी क्यों शक्य नहीं? अवश्य किया जा सकता है. विवाद यहां नहीं है. इस सारे विषयविवेचन द्वारा मुझे जो विचिकित्सित है, वह तो केवल इतना ही है कि श्रीसहजानन्द स्वामीके नामपर प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें एकवाक्यताका प्रतिष्ठापक कोई व्याख्याशास्त्रीय प्रामाणिक निकष खोजना आवश्यक है. अन्यथा सुन्दोपसुन्दन्यायेन दोनों ही ग्रन्थोंका प्रामाण्य सन्दिग्ध बन जायेगा.

क्योंकि श्री सा.श्रु.जीके ऐसे अनिर्णायक समाधानपत्रके बाद अब यह और अधिक जिज्ञास्य बन गया है कि स्वामिनारायणपन्थमें साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका प्रामाण्य श्रीजीमाहाराजद्वारा घोषित **“सच्छास्त्राणां समुद्भूत्य सर्वेषां सारम् आत्मना पत्री इयं लिखिता”** (शिक्षाप.२०४) विधानके अनुसार प्रमाणतया सकलशिष्टादृत श्रुत्यादिशास्त्रोंपर अवलम्बित है? अथवा **“साम्प्रदायिकग्रन्थेभ्यो ज्ञेयः एषान्तु विस्तरः”** (शिक्षाप.२०४) विधानके अनुसार केवल शिक्षापत्री और वचनामृत-सत्संगिजीवन आदि ग्रन्थोंके सार-विस्ताररूप अथवा आरुरुक्षु-आरुरुक्षुभेदभिन्न साधारणोपदेश-रहस्योपदेशरूप अन्योन्याश्रित प्रामाण्य है? यदि प्रथम कल्प स्वीकारते हैं तो वेदोपनिषद्गीताभागवतोक्त श्रीकृष्णके अक्षरब्रह्मधामाधिपति होनेके तथ्यसे विरुद्ध श्रीसहजानन्द स्वामीके अवतार होनेकी कथा स्वमूलोच्छेदिका होनेसे अप्रामाणिक सिद्ध होगी. यदि द्वितीय कल्प स्वीकारते हैं तो श्रीसहजानन्द स्वामीके मूलवचन तथा उनके शिष्योंके रहस्यस्फोटक वचनोंमें परस्पर विरोधाभासका परिहार मूलवचनोंके प्रामाण्यका त्याग करके ग्रहण करना अथवा मूलवचनोंके स्वारसिक अर्थका त्याग करके? अथवा उनके भक्तोंने उनके वचनोंका परोक्षरूपेण विवक्षित जो कुछ तात्पर्य समझा तदनुसार करना? इस तरहकी किम्बोद्भवविमूढता मुझे सता रही है. श्री सा.श्रु.जी तो श्रुतिकल्प श्रीजीवचन और स्मृतिकल्प उनके सत्संगिओंके वचनमें जहां भी विरोध या विरोधाभास झलकता है वहां **“स्मृतिरेव बलीयसी”** आदर्शका अनुसरण किस सीमा तक कर रहे हैं, यह अब आनेवाले निरूपणमें हम देखनेका प्रयास करेंगे.

यहां यह पुनः उल्लेखनीय हो जाता है कि शिक्षापत्रीके श्लोकोंकी संख्या, वचनामृतोंकी संख्या, उनके लेखनकाल, उनके संकलनकारोंकी संख्याके बारेमें इस परम्परामें मिलते आन्तरिक मतभेद चाहे सैद्धान्तिक दृष्टिसे अधिक महत्वपूर्ण नभी हों पर ऐतिह्यकी दृष्टिसे मनको शंकाकुल तो बनाते ही हैं. क्योंकि यदि

संकलनकारोंके बीच ही स्वयं अपने बारेमें विवाद हो कि ये वचनामृत हम चार-मुक्तानन्द गोपालानन्द नित्यानन्द और शुकमुनि-ने संकलित किये या ब्रह्मानन्द भी हमारे साथी थे तो विश्वास कैसे किया जाये कि इन्हीं व्यक्तिओंने संकलित किये या इनके नामसे अन्य किसीने संकलित या संकल्पित कर लिये हैं. यद्यपि इस ऐतिह्यगत विसंवादिताका सिद्धान्तसे कुछ लेना-देना नहीं. फिरभी ग्रन्थके विश्वनीय सूत्रोंद्वारा संकलित होने या न-होने का सिद्धान्तपर भी कुछ न कुछ असर तो मानना ही पड़ता है. विशेषमें तब कि जब वह स्वहस्ताक्षरालेखित शिक्षापत्रीके वचनोंके साथ ही नहीं अपितु उससे संवाद रखनेवाले वचनामृतोंके भीतर भी एक वचनके भी स्वारसिक अर्थसे अन्य वचन विरुद्ध जाता हो और खास कर तब कि जब इसे श्रीसहजानन्द स्वामीके भक्तोंद्वारा लिखे विधानोंके आधारपर ही केवल स्वीकरणीय मान लिया जाता हो.

अतः समाधान प्रदान करनेकी इस दिशामें प्रयास करनेके बजाय श्री सा.श्रु.जी मानों स्वयं वैष्णव न हों ऐसी मुद्रा अपना कर जब विभीषिका दिखाते हैं कि **“वचनामृतमें अप्रामाण्यका गन्ध देखेंगे तब तो वैष्णव सम्प्रदायके मान्य भगवद्गीता श्रीमद्भागवत इत्यादि ग्रन्थ भी अप्राणिकताके लक्ष्य बन जायेंगे”** (यथापूर्वोक्त) तो ऐसी विभीषिकासे स्वयं श्री सा.श्रु.जी ही हमें त्राणोपाय दिखायें क्योंकि यदि सारेके सारे वैष्णवशास्त्र अप्रामाणिक हो जायेंगे, तो क्या श्रीसहजानन्द स्वामीजीको अतिशय प्रमाणतया आदृत सच्छास्त्र भी असच्छास्त्र सिद्ध नहीं हो जायेंगे? अतः कोई न कोई समाधान तो श्री सा.श्रु.जीको भी खोजना ही पड़ेगा. वह केवल हमारा ही उत्तरदायित्व हो ऐसी बात तो नहीं. उनका भी कुछ उत्तरदायित्व है ही. सो जो समाधान वे खोजें वह हमें भी बता दें हम भी उनका खोजा समाधान सुन कर उनके कृतज्ञ बन जायेंगे और तो इस बारेमें क्या कहा जा सकता है? वैसे यह तो ऐसी बात कह दी है कि किसीके शरीरमें गरदन या पीठ पर कोई गांठ उभर आये; और कोई शल्यचिकित्सक उसे काट देनेकी सलाह देता हो; और तब शरीरविज्ञानमें नितान्त अनभिज्ञ परिवारके स्नेही जन अनिष्टशंकाके कारण ऐसा कहें कि **“गरदन या पीठ की गांठ काटनेकी बात करनेपर तो बिमारके सारे शरीरको भी काटा जा सकेगा”**

हमें भूलना नहीं चाहिये कि वैष्णवशास्त्रोंका प्रामाण्य वैष्णववेदान्तके सभी सम्प्रदायोंका प्रतिद्वन्द्वसिद्धान्त है. जबकि तत्त्व सम्प्रदायके साधारणग्रन्थ या रहस्यग्रन्थ एकदेशीके अधिकरणसिद्धान्त होते हैं, समानतन्त्रसिद्धान्त नहीं. अतः वाल्लभ सम्प्रदायके निबन्ध षोडशग्रन्थ आदि ग्रन्थोंके प्रामाण्यके बारेमें कोई शंका या आक्षेप करने लगे तो तावता वेद गीता ब्रह्मसूत्र भागवत महाभारत या पाञ्चरात्र आदि वैष्णवशास्त्रोंका प्रामाण्य सन्दिग्ध या निरस्त नहीं हो जाता.

**(६. “मतं विशिष्टाद्वैतं मे”, “भाष्यम् आध्यात्मिकं मम” तथा विशि.-
स्वा.ना.दर्शनोंमें साम्य-वैषम्य की समीक्षा)**

समाधानपत्र(के खण्ड : ४.४, ४.४.१)में “स्वामिनारायण सम्प्रदायकी पूर्व गुरुपरम्परा” शीर्षकके अन्तर्गत श्रीजीमहाराजसे पूर्ववर्ती व्यक्ति और ग्रन्थों के उद्धरणोंद्वारा स्वयं रामानन्दस्वामीने रामानुजसम्प्रदायको त्याग दिया था ऐसा भी एक वृत्तान्त दिया है और साथ ही साथ रामानुजसम्प्रदायमें शिष्य हुवे ही नहीं क्योंकि श्रीकृष्णभक्तिकी परम्परामें ही वे दीक्षित थे ऐसा दूसरा वृत्तान्त भी. यों दो परस्पर विरोधाभासी ऐतिह्य दिये हैं. अब इन वृत्तान्तोंको प्रामाणिक भी मान लेते हैं तो अनन्तकोटिब्रह्माण्डके परमेश्वर तथा सर्वज्ञ श्रीसहजानन्द स्वामीको क्या इन वृत्तान्तोंसे अनभिज्ञ मानना? या रामानन्दस्वामीके रामानुजके शिष्य होनेकी स्वीकृतिको क्या मिथ्याज्ञानमूलक मानना? अथवा शिष्येष्णके अतिरेकवश श्रीसहजानन्द स्वामीको सब कुछ जानते हुवे भी क्या कपटवचनके प्रयोग करनेवाले मानना? उस विश्ववन्द्य पुरुषको इन तीनोंमेंसे ऐसा कुछ भी माननेको मेरा हृदय तो गवाही नहीं देता !

अतः इस विषयमें मुझे इससे अधिक कुछ भी विवक्षित नहीं. अब इसके बाद आती है “मतं विशिष्टाद्वैतं मे” विधानकी श्री सा.श्रु.जी. द्वारा दी जाती व्याख्याकी बात. यहां श्री सा.श्रु.जी इतरेतरनिरपेक्ष तीन विकल्प प्रस्तावित करते हैं : १. ‘मतं’ पदका अभिप्राय सर्वांशमें रामानुजीय विशिष्टाद्वैतके स्वीकार्य या अनुसरणीय होनेके बजाय उस मतके किसी पक्षविशेषके प्रति विशेषरुचिके रूपमें लेना, २. विशिष्टाद्वैतवादोक्त शरीरशरीरिभावकी प्रक्रिया तत्त्वपञ्चकके सन्दर्भमें मान्य होनेके अर्थमें लेनी, ३. विशिष्टाद्वैतियोंको तो गोलोक मान्य नहीं जो इसी

श्लोकके अगले पादमें उल्लिखित है. अतः यहीं यह सिद्ध हो जाता है कि सर्वांशमें विशिष्टाद्वैतवाद श्रीसहजानन्द स्वामीको मान्य नहीं है.

१. कल्पके बारेमें ये प्रश्न उठते हैं : श्रीसहजानन्द स्वामीजीको सच्छास्त्रतया अभिमत शारीरकशास्त्र और भगवद्गीता पर श्रीरामानुजाचार्यकृत भाष्योंमें और तत्प्रतिपाद्य विशिष्टाद्वैतवादमें रुचि इन भाष्य और तत्प्रतिपादित सिद्धान्त के प्रामाणिक होनेके कारण है या उन्हें अप्रामाणिक मान कर भी? प्रथम कल्पमें श्रीरामानुजाचार्य द्वारा व्याख्यात सिद्धान्त अनुल्लंघ्य बन जायेगा. द्वितीय कल्पमें “कहीं अप्रामाणिक तो कहीं प्रामाणिक मान कर रुचि है” ऐसा मान लेनेपर यह आवश्यक हो जाता है कि जिस अंशमें उन्हें आत्मस्वीकृत प्रामाण्यसे बंधना है उसके बारेमें स्वयं उनके द्वारा दिये गये स्पष्टीकरणको ही विनिगमक मानना पड़ेगा, यद्वा-तद्वा समझको नहीं. जैसेकि “एतेषु यानि वाक्यानि, श्रीकृष्णस्य वृषस्य च उत्कर्षपराणि स्युः तथा भक्तिविरागयोः, मन्तव्यानि प्रधानानि तान्येव इतरवाक्यतः. धर्मेण सहिता कृष्णभक्तिः कार्या इति तद्ग्रहः” (शिक्षाप.१०१-१०२) इसे ही विनिगमक मानना पड़ेगा. वह माननेपर तो श्रीकृष्णकी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्योपदिष्ट भक्तिकी रीतिसे विरुद्ध जानेवाले विशेषतः ११५वें वचनमृतोंके बादके अनवलोकित वचनमृतोंमें परोक्षवृत्तिके रूप शिष्योंद्वारा मान लिये गये मनगघड़ंत रहस्योंके आधारपर अंशतो-अप्रामाण्य निर्धारित नहीं हो पायेगा. क्योंकि ऐसा करनेपर तो “मतं विशिष्टाद्वैतं मे”-“रामानुजाचार्यकृतं भाष्यम् आध्यात्मिकं(शास्त्रं) मम” (शिक्षाप.१२१-१००) वचनोंका प्रामाण्य निरवकाश ही हो जायेगा. ऐसी स्थितिमें “सावकाशनिरवकाशयोः निरवकाशो बलीयान्” न्यायेन पुनः इन्हीं वचनोंका बलवत्तरप्रामाण्य स्वीकारना पड़ेगा.

२. कल्पके बारेमें यह कथनीय है कि तत्त्वत्रयी मानों या तत्त्वपंचक मानों, किसी भी सूत्रमें उन अध्यात्मशास्त्र(दृष्ट. : शिक्षाप.१००)के विषयरूप(दृष्ट. : वचना.ग.प.७) ‘ईशजीवमाया’/‘पुरुषोत्तमाक्षरेश्वरजीवमाया’ तत्त्वोंका स्वरूप शारीरकसूत्र-भगवद्गीताके भाष्योंमें श्रीरामानुजाचार्यद्वारा प्रतिपादित इन तत्त्वोंके स्वरूपसे विरुद्ध होनेपर प्रामाणिकतया मान्य नहीं हो पायेगा. स्वयं उनके “रामानुजस्वामीने जिस प्रकार क्षर-अक्षरसे परे पुरुषोत्तम भगवान्का निरूपण किया है, उन पुरुषोत्तम भगवान्की तो हम उपासना करते हैं (अर्थात्

हम स्वयं पुरुषोत्तम नहीं हैं) गोपियोंके समान उन पुरुषोत्तम भगवान्की हम भी भक्ति करते हैं” (वचना.लो.१४) सदृश वचनामृत भी अनुसन्धेय बनते हैं. अतः एतदविरोधेन तो श्रीसहजानन्द स्वामीके ही नहीं प्रत्युत श्रीश्रुतिप्रकाशदासजीके भी अनन्तकोटिब्रह्माण्डके आधारभूत अक्षरधामके स्वामी होनेका विधान भी माननेमें किसीको आपत्ति हो नहीं सकती. अन्यथा लक्ष्मी-नारायण या राधाकृष्ण की परतत्त्वताके प्रत्याख्यानपूर्वक श्रीसहजानन्द-गुणातीतानन्दजीके परतत्त्व होनेका कोलाहल कदापि प्रामाणिक हो नहीं पायेगा, यदि शिक्षापत्रीको ही अप्रामाणिक घोषित कर देनेका दुःसाहस न प्रकट करना हो तो

३.कल्पमें श्री सा.श्रु.जी कहते हैं कि शिक्षापत्रीके भाष्यकारके अनुसार साकारब्रह्मका समीचीन प्रतिपादन क्योंकि रामानुजीयभाष्यमें उपलब्ध होता है; अतः उतना ही अंश मान्य है, सर्वांशमें नहीं. इस बारेमें यह कहना चाहूंगा कि ऐसा विधान स्वामिनारायणीय सम्प्रदायमें श्री सा.श्रु.जी स्वयं वदतोव्याघातके बिना कर नहीं पायेंगे. क्योंकि “वचनामृतमें अप्रामाण्यका गन्ध देखेंगे तब तो...” बड़ी विपदाकी विभीषिका वे स्वयं प्रकट चुके हैं और और हम जानते हैं कि ‘उद्धवसम्प्रदाय’शीर्षकवाले वचनामृत(व.१८)में अवश्यांगीकरणीय पांचमेंसे दूसरी बातके रूपमें श्रीसहजानन्द स्वामी अपनी रामानुजानुगामिताके रहस्यपर पर भार दे रहे हैं. अतः दोमेंसे किसी एकका प्रामाण्य तो छोड़ना ही पड़ेगा. पुनश्च इस अंशको वचनामृतमें प्रक्षिप्त भी मान लें तब भी यथोपलब्ध वचनामृतोंके प्रामाण्यका त्याग तो गलेपतित ही रहेगा.

रही बात रामानुजभाष्यमें उपलब्ध होते शिक्षापत्रीविरुद्ध विधानोंके विमर्शकी तो स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीको अंगीकरणीय प्रामाण्यपरिधि जिस लक्ष्मणरेखाके भीतर उन्होंने दिखलायी है, उससे बाहर जानेपर तो शिक्षापत्रीकी प्रामाणिकताकी सीताको भी अप्रामाण्यसन्देहरूपी रावण हर लेगा भागवतपुराणपर रामानुजोंकी टीका मिलती है और भागवत(१०।२७।१)में गोलोकका उल्लेख भी है ही. साथ ही साथ स्वयं श्रीवेदान्तदेशिकने भी केवल विष्णुपुराणका ही प्रामाण्य स्वीकारते हों ऐसी बात भी नहीं है. क्योंकि उन्होंने तो इस विषयमें उन्हें मान्य निकष “नहि पुराणादिषु प्रधानार्थविरोधो भूयान्. श्रुत्युक्तमेव अनुसरन्ति सत्त्वोत्तराणि पुराणादीनि.” (तत्त्वमु.४।१२०) यों बहुवचनके प्रयोगपूर्वक स्पष्ट परिभाषित

कर ही रखा है. श्रीमद्भागवत सात्त्विक पुराणान्तर्गत परिगणित होनेसे उल्लिखित निकषपर खरा भी उतरता ही है. अतः श्रीवेदान्तदेशिक भागवतपुराण या गोलोक की प्रामाणिकताको क्यों नहीं मानेंगे? तत्त्वमुक्ताकलाप (३।७४) बलरामकृष्णकी भागवतवर्णित लीलाका उल्लेख करते ही हैं. श्री सा.श्रु.जी कहते हैं कि रामानुजीय भाष्यमें पशुहिंसात्मक यज्ञोंकी अनुमति जिसे शिक्षापत्रीमें निषिद्ध माना गया है, अतः श्रीजीमहाराजको रामानुजमतानुगामी माना नहीं जा सकता. यह तो “आम्रान् पृष्ठे कोविदारान् व्याचष्टे” जैसी कथा हो गयी. श्रीसहजानन्द स्वामी अपने द्वारा सुपरिभाषित अर्थमें रामानुजभाष्योक्त आध्यात्मिक पदार्थ ईश्वर जीव और माया के बारेमें विशिष्टाद्वैतवादको अपना मत बता रहे हैं. श्री सा.श्रु.जी पशुहिंसाके निषेधको हेतुतया प्रस्तुत कर उसे इन्कारना चाहते हैं. किं केन सम्बध्यते? कहा जाता है कि “देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः यागः” तदनुसार यजनक्रियाके कर्मरूप पशुकी हिंसाके बारेमें इतनी पापपुण्यके विवेककी चिन्ता करनी पर “दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः श्रेयोभिः विविधैः च अन्यैः कृष्णे भक्तिः हि साध्यते” (भाग.पुरा.१०।४७।२४) वचनोक्त सारे यज्ञादि धर्मोंके एकमात्र सम्प्रदानभूत तथा श्रीसहजानन्द स्वामीके भी उपास्य इष्टदेव भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी परतत्त्वताके अस्वीकार द्वारा उनकी की जाती हिंसाकी चिन्ता क्यों नहीं सताती

श्रीसहजानन्द स्वामी सुस्पष्ट शब्दोंमें “याज्ञवल्क्यस्य च स्मृति... धर्मो ज्ञेयः सदाचारः श्रुतिस्मृत्युपपादितः” (शिक्षाप.९९-१०३) कहते हैं. अब याज्ञवल्क्यस्मृतिमें तो “मेदसा तर्पयेद् देवान्... अन्वहं शक्तितो द्विजः”- “प्राणात्यये तथा श्राद्धे प्रोक्षितं द्विजकाम्यया देवान् पितृन् तथा अभ्यर्च्य खादन् मांसं न दोषभाक्” (याज्ञव.स्मृ.आचाराध्याये : २।४७-७।१७८) ऐसी आज्ञा-अनुज्ञा दोनों मिलती ही हैं. तो क्या स्वामिनारायण सम्प्रदायमें इस विरोधाभासके बहाने याज्ञवल्क्योपदिष्ट सकल धर्मोंको अननुसरणीय माना जा सकता है? क्या ब्रह्मचारी साधु या परमहंस विवाह कर सकते हैं? क्योंकि “ब्रह्मचर्यव्रतत्यागपरं वाक्यं गुरोरपि तैः न मान्यम्”- “न प्रवेशितव्या च स्वावासे स्त्री कदाचन” (शिक्षाप.१८०-१९०) निषेध भी याज्ञवल्क्यस्मृतिके “म धु मां सा ङ्ज ना िच्छ ष्ट शु क्त स्त्री प्रा णि हिं स नं भास्करालोकनाश्लीलपरिवादान् च वर्जयेत्” (याज्ञव.स्मृ.आचाराध्याये :

२।३०) वचनपर आधारित है. तो याज्ञवल्क्योपदिष्ट मांसभक्षणके निषेधद्वारा क्या श्रीजीमहाराजने ब्रह्मचर्यके वचनका बन्धन भी अमान्य कर दिया है क्या? क्या ऐसा युक्तिवाद शक्य है? यदि नहीं तो उसी तरह ईश्वर जीव माया रूपी आध्यात्मिक तत्त्वोंका स्वरूप रामानुजीय ब्रह्मसूत्रभगवद्गीताभाष्योंमें प्रतिपादित रीतिके अनुसार औत्सर्गिक रूपेण स्वीकार करना ही पड़ेगा. उस परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तम वासुदेव श्रीकृष्णकी सेवाभक्ति भी अपवादरूपेण महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यनिर्दिष्ट रीतिसे श्रीसहजानन्द स्वामीजीने नियत बना दी है. इन बातोंको केवल रुचिप्रदर्शनका गौणकल्प नहीं बनाया जा सकता.

तद्वत् ही देवाराधानार्थ पशुहिंसा या मांसभक्षण भी याज्ञवल्क्यस्मृति द्वारा अनुमोदित होनेपर भी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा “एवं क्रियायोगो वैदिको यज्ञात्मकः प्रशस्तः=तेषु ब्राह्मणवाक्यानि अतिप्रशंसकानि भवन्ति. नतु द्वादशाहीनवत्(!?) निन्दितान्यपि भवन्ति. तत्रापि हिंसाप्रचुरं न कर्तव्यम्. अल्पहिंसा इध्माबर्हिषाम् अर्थे. आलम्भेऽपि तादृक्पशुसद्भावे अल्पहिंसा भवति ‘मृत्यवे वा एष नीयते’ इति श्रुतेः. अतो नातिहिंसेण इति उक्तम्” (सुबो.३।२९।१५) यों अधिकारिभेदवश कर्ममार्गीय अतिहिंस्रकर्मोंका श्रुतिविहित भी अनुष्ठान भक्तिमार्गीय अधिकारीको उत्सर्गतः प्राप्त होना चाहिये था परन्तु भागवतपुराण उसे कर्ममार्गमें अनुज्ञप्त मान कर भी भक्तिमें श्रेयस्कर नहीं मानता. अतः अपवादरूपेण अप्रसक्त ठहराता है. ऐसा महाप्रभुने स्पष्टीकरण दिया है. इसी मार्गदर्शनके अनुसार श्रीसहजानन्द स्वामी भी वेदप्रामाण्यके विलोपन किये बिना अपने भक्तिमार्गीय सम्प्रदायमें “देवतापितृयागार्थमपि अजादेः च हिंसनं न कर्तव्यम् अहिंसैव धर्मः प्रोक्तो अस्ति यद् महान्” (शिक्षाप.१२) वचन द्वारा याज्ञवल्क्यस्मृतिके “महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियाय उपकल्पयेत् सत्क्रिया सेवनं स्वादु भोजनं...” (याज्ञव.स्मृ.आचाराध्याये : ५।१०८) के इस वचनसे प्रसक्तका भी प्रतिषेध कर रहे हैं, अप्रसक्तका तो प्रतिषेध अकल्पनीय ही होता है.

रामानुजीय आल्वार सन्त श्रीपरकालसूरिके चरित्रका प्रश्न उठाया गया है. शिक्षापत्रीमें उपदिष्ट सात निषेधोंके आधारपर उनके आचरणको निषिद्ध कृत्य मान कर उन्हें गुरुपरम्परामें न स्वीकारनेकी समस्या खड़ी की गयी है. तो इस बारेमें मुझे

लगता है कि स्वयं श्री सा.श्रु.जीके अनुसार शिक्षापत्री साधारणधर्मोपदेशपरक ग्रन्थ है, रहस्यरूप धर्मका उदेशक नहीं. ऐसी स्थितिमें श्रीपरकालसूरिके चरित्रको साधारणधर्मसे विपरीत होनेपर भी रहस्यरूपधर्मकी कसौटीपर कसना चाहिये था. वचनामृतमें कहा ही है कि “यद्यपि अर्जुनने युद्धमें अनेक हिंसात्मक कार्य किये फिरभी वे मनमें लेशमात्र क्षुब्ध नहीं हुवे क्योंकि उन्हें भगवान्के आश्रयका संबल था” – “जो पुरुष स्वरूपनिष्ठा रखता है उसकी धर्मनिष्ठा भी सहजभावसे बनी रहती है. यदि उसने एकमात्र धर्मनिष्ठा ही रखी तो स्वरूपनिष्ठा शिथिल पड़ जायेगी” (वचना.ग.म.९-ग.म.१६). इन वचनोंसे तो चरित्र अविरोद्ध ही लगता होनेसे श्रीपरकालसूरिको गुरुपरम्परामें मान्य रखनेमें आपत्ति प्रस्तुत नहीं करनी चाहिये थी. भला “नैकानहं विनिन्दामि नाहं निन्दोऽस्मि केनचित्” तो साधुनीति नहीं होती.

(६.तात्त्विकभेद, साम्प्रदायिक-धार्मिकभेद, दर्शनभेद तथा विशिष्टाद्वैताभिमत एक शिष्टाचार की समीक्षा)

समाधानपत्रके इन खण्डों (५.१-५.२-५.३) में श्री सा.श्रु.जीने रामानुजीय और स्वामिनारायणीय मतोंके बीच परस्पर वैमत्यकी लंबी तालिका दी है. इसमें करीबन ६६ मुद्दोंकी संकलना है. इन मुद्दोंको ६६से बढ़ा कर ६६६की संख्यामें भी गुणित किया जा सकता है पर अन्तमें वह सब स्वयं श्रीजीमहाराज द्वारा अध्यात्मशास्त्रीय ग्रन्थोंके नामनिर्देशपूर्वक स्वयंकी ‘अभिमत’ कहो या ‘रुचि’ कहो, जो कुछ भी कहो, उसके बारेमें जो स्वीकारोक्ति घोषित की, उस विधानके प्रामाण्यकी अपहारिका ही होंगी ऐसी अनुपपत्ति स्वयं उनके वचनोंमें सदोषता ही प्रकट करेंगी. क्योंकि इतना वैपरीत्य होनेपर भी उन्हें रामानुजीय ग्रन्थोक्त मतमें रुचि क्यों है यह तो जिज्ञास्य होगा ही क्योंकि निर्गुण-निराकारवादका खण्डन तो माध्वग्रन्थोंमें भी उतना ही उपलब्ध होता है और वाल्लभ ग्रन्थोंमें भी. तो इनमें क्यों रुचि नहीं है? श्री सा.श्रु.जी कहते रामानुजमत दक्षिण तथा उत्तर दोनों देशोंमें प्रसिद्ध था. अतः उसके प्रति अपना आदरभाव प्रकट किया. परन्तु श्रीजीमहाराजने तो गुजरातमें ही अपने मतका प्रचार अधिक किया जहां वाल्लभ सम्प्रदाय अधिक प्रबल था उसमें क्यों रुचि नहीं दिखायी? अर्थात् यह भी शक्य था वाल्लभ वेदान्तमें और रामानुजीय साधनाप्रणालीमें भी रुचि दिखा सकते थे ! अब यह कहा जाये कि सौराष्ट्र-गुजरातकी अधिकांश जनता वाल्लभ वेदान्तसे

उतनी सुपरिचत नहीं थी जितनी कि श्रीकृष्णकी सेवाभक्तिसे. अतः श्रीकृष्णभक्ति वाल्लभ सम्प्रदायसे दिखलायी तथा रामानुज सम्प्रदायके दर्शनमें रुचि दिखा दी जिससे कोई हानि तो होनी नहीं थी.

इसे एक कूटनीति तो मानी जा सकती है पर अनन्तकोटिब्रह्माण्डके अधीश माने जाते श्रीसहजानन्दजीको सत्यधर्मोपदेशकी निष्ठाकी बाबतमें मानसिक रूपमें अतीव निर्बल ही सिद्ध करती है. अतएव मुझे कदापि मान्य नहीं लगती.

अतः इन प्रश्नोंका समाधान न खोज पायें, तब तक ऐसी मतभेदतालिकाके मुद्दोंकी कितनी संख्या भी क्यों न हो वास्तविक समाधान मिल नहीं पायेगा. अतएव ऐसी तालिकाकी समीक्षा भी बहुत आवश्यक नहीं लगती. फिरभी स्थूणाखननन्यायेन इस तालिकाके कुछ मुद्दोंको दृष्टिगत कर लेना उचित होगा.

तदनुसार सर्वप्रथम रामानुजीय वेदान्ताभिमत तत्त्वत्रयी या तत्त्वसप्तक उन शास्त्रोंके आधारपर सिद्ध हैं, जिनका प्रामाण्य स्वयं श्रीजीमहाराजको पूर्णतया मान्य है. अतः उन-उन वचनोंका वैसा अर्थ न हो कर जैसा आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्त प्रस्तुत करना चाहता है, वैसा ही अभिप्रेत है यह सिद्ध न कर दिया जाये, तब तक ऐसी तालिकाका कोई महत्त्व सिद्ध नहीं होता. अतः तात्त्विकभेदके अन्तर्गत १-१८ तकके सारे मुद्दोंको तो मैं गर्भसावसे ही निरस्त मानता हूं. उदाहरणतया श्रीमद्भागवतका अतिशय प्रामाण्य शिक्षापत्री और वचनामृत दोनोंमें ही स्वीकारा गया है. अतः इस स्वीकारोक्तिके अनुरोधवश भगवद्धाम निर्गुण है या विशुद्धसत्त्वात्मक इसका समाधान “ॐ नमो नारायणाय पुरुषाय महात्मने विशुद्धसत्त्वधिष्ण्याय...” (भाग.पुरा.६।५।२८), “विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं तपोमयं ध्वस्ततमोरजस्कं मयामयो अयं गुणसम्प्रवाहो न विद्यते...” (भाग.पुरा.१०।२७।४) इस वचनमें सुस्पष्टतया विशुद्धसत्त्वात्मक धामको ‘मायातीत’ कहा गया है. अतः रामानुजीय वेदान्ताभिमत धारणाकी तो यहां भागवती सम्पुष्टि हो जाती है परन्तु आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्तकी प्रामाणिकताके आधारभूत शास्त्रवचन क्या हैं और कोई हों भी तो इन भागवतवचनोंके साथ उनकी एकवाक्यता कैसे साधनी? “तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः संदर्शयामास परं न यत्परं व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं

स्वदृष्टवद्भिः विबुधैः अभिष्टुतं प्रवर्तते यत्र रजस्तममयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः, न यात्रा माया किम् उत अपरे हरेः अनुव्रताः यत्र सुरासुरार्चिताः श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः सर्वे चतुर्बाहवः... श्रीः यत्र रूपिणी उरुगायपादयोः करोति मानं बहुधा विभूतिभिः प्रेङ्खश्रिता...” (भाग.पुरा.२।१।९-१३) इस भागवतके वचनमें रामानुजीय परमधामकी प्रामाणिकता स्वयं श्रीजीमहाराजको अतिशय प्रमाणतया अभिमत भागवतपुराणके आधारपर सिद्ध होती है. इसे अस्वीकार करनेपर तो स्वयं श्रीजीमहाराजके वचन अप्रमाण हो जायेंगे. परन्तु आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्ताभिमत परमधामके समर्थनमें स्वयं श्रीजीमहाराजको अभिमत सच्छास्त्रोंमेंसे एक वचन भी उद्धृत कर पाना सर्वथा असम्भव कथा ही लगती है.

इसके बाद आते हैं मुद्दे १९-३८. इनके अन्तर्गत तुलनार्थ प्रस्तुत मुद्दोंमें जहां भी वैष्णवतन्त्रोंके वचन उद्धृत किये गये हैं उन मुद्दोंमें तो शास्त्रवचनके बलपर ही रामानुजीय मतकी प्रामाणिकता सिद्ध हो जायेगी. अपने-आपको उसके प्रतिपक्षी दरसानेपर आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्तकी अप्रामाणिकता भी स्वयं श्री सा.श्रु.जी स्वीकार लेते हों तो अधिक कहनेको कुछ अवशिष्ट रह नहीं जाता. फिरभी नितान्त साम्प्रदायिक धारणा कि “श्रीसहजानन्दजी परब्रह्म हैं और प्रत्येक गुरु अक्षरब्रह्म हैं” इसे सिद्ध कर पाये ऐसे शिष्टादृत शास्त्रोंके वचन यदि प्रस्तुत नहीं किये जाते तो काव्यकल्पना और तत्त्वशास्त्रीय धारणाओंमें प्रभेद ही दुष्कर हो जायेगा.

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड होनेकी धारणा शिष्टादृत शास्त्रोक्त है वह स्वामिनारायणीय चिन्तनकी एकस्वीकृत धारणा नहीं है. हमने देख ही लिया कि वह भागवतकी ‘वीरराघवी’ रामानुजीयव्याख्यामें स्वीकारी ही गयी है. अन्यथा भी ऐसी धारणा जहां-जहां शास्त्रमें प्रतिपादित है उन शास्त्रोंके प्रामाण्य स्वीकारनेमात्रसे भी वह अर्थापत्तिस्वीकृत हो जाती है.

यही बात सृष्टिकी उत्पत्ति केवल लीलामात्र है, यह सिद्धान्त भी स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीजीको “वेदाश्च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधम्” (शिक्षाप.९३) वचनमें शिरसा मान्य “सवै नैव रेमे... तस्मात् तत् सर्वम्

अभवत्” – “लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्” – “क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगु कृतं ते” (बृह.उप.१।४।३-१०, ब्र.सू.२।१।३३, भाग.पुरा.८।२२।२०) आदि श्रुतिसूत्रपुराणोंकी एकवाक्यताके आधारपर सिद्ध है. इसे अस्वीकार करनेपर या इसके विपरीत मनघडंत कल्पना करनेपर स्वामिनारायणीय सिद्धान्त या तो वेदान्त होनेकी योग्यता खो देगा या वदतोव्याघातके गर्तमें पड़ जायेगा. सो रामानुजमत ही सर्वथा प्रामाणिक होनेसे उसके साथ तुलनाहै ही नहीं रह जाता.

रामानुजमतमें भक्तिप्रपत्ति दोनों ही प्रधान हैं उसमें कहने लायक कोई कथा ही नहीं.

३८वें मुद्देमें श्री सा.श्रु.जी कहते हैं कि “रामानुजमतमें वेदान्त आगम और द्रविडप्रबन्ध का प्राधान्य है जबकि स्वामिनारायणीय सिद्धान्तमें सांख्य-योग पञ्चरात्र वेदान्त और वचनामृत का प्राधान्य है” यह भी खूब रही कि स्वयं श्रीजीमहाराजके वचनामृत(पं.२)में जिन सांख्ययोगोंमें रहे दोषोंके निरसनपूर्वक उन्हें माननेकी बात कही वे तो प्रधान हो गये. और निजकण्ठसे जिनमें एक भी दोष निरूपित नहीं किया और अपनी ‘रुचि’ या ‘अभिमति’ जो कहो उसे गुरुपरम्परागततया सिद्धान्तनाम और ग्रन्थनाम ग्रहणके साथ स्वीकारा, उस विशिष्टाद्वैतवादमें ढके बजाय ६६ दोष स्फुरित हो रहे हैं. कारण इसमें यह लगता है जो स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीने कहा है “और सांख्यमतानुयायी जब आकारको मिथ्या समझते हैं तब वे तीर्थ व्रत प्रतिमा यम-नियम ब्रह्मचर्यादि धर्म तथा ब्रह्मा-विष्णु-शिव एवं रामकृष्णादि अवतारोंका खण्डन करते हैं. इसलिये ये आधुनिक सांख्य-योगमतानुयायी इन दोनों मार्गोंको छोड़ कर कुमार्गगामी हो गये हैं. इस कारण वे नारकी होते हैं” (वचना.पं.२). शिष्टाद्वैत शास्त्रप्रतिपादित भगवान्के रूपोंका अवमूल्यन कर अपने केवल गुरु और उनके भक्तों की महिमा बढ़ानेके हेतु रामानुजवेदान्तको मान्यता देना अब अनपेक्षित हो गया है.

वैसे इनमें द्रविडप्रबन्ध जैसे स्वामिनारायण पन्थको मान्य नहीं, ऐसे ही वचनामृत आदि ग्रन्थोंको रामानुजसम्प्रदाय क्यों प्रमाणकोटिमें मान्य रखेगा. अतः अवशिष्ट रहे ग्रन्थोंमें पौराणिक सांख्य-योग तो रामानुजमतमें भी मान्य होंगे परन्तु

बादरायणसूत्रोंमें निराकृत उनके तत्तद् अंश यदि स्वामिनारायणीय पन्थमें मान्य हों तो वह वेदान्त नहीं रह जायेगा. एतावता सिद्ध होता है कि जो भी उभयमान्य शास्त्र हैं, उनमें तो स्वामिनारायणीय सिद्धान्त निरूपित नहीं हुवा प्रत्युत विरुद्ध होनेके कारण रामानुजवेदान्तकी तुलनामें प्रमाणवत्ता सन्दिग्ध ही ठहरती है.

सर्वाधिक आश्चर्य तो श्री सा.श्रु.जीके इस विधानपर होता है कि “स्वामिनारायणदर्शनके उद्गमके समय विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय न केवल दक्षिणभारतमें किन्तु पूरे भारतमें प्रसिद्ध था... फिरभी भगवान् स्वामिनारायणको अपने-आप विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त स्वीकारनेकी आवश्यकता नहीं थी. यदि विशिष्टाद्वैत ही अपना स्वीकृत सिद्धान्त होता तो दक्षिणभारतमें सुप्रसिद्ध तोताद्रिमठके प्रमुख जीअर स्वामीने भगवान्को चक्रांकित कर दीक्षा दी थी, ‘वानमामलै तोताद्रि रामानुजदास’ नाम भी रखा था. उसी समय तोताद्रिमठसे ही विशिष्टाद्वैतका प्रचार करते होते. लेकिन पांच तत्त्वोंका सिद्धान्त और स्त्रीपुरुषमर्यादा(?) इत्यादि अपने विचारके अनुरूप व्यवस्था तोताद्रिमें नहीं देख कर वहांसे चल पड़े. गुजरातमें रामानन्द स्वामीके सम्प्रदायमें अपने विचारके अनुरूप सिद्धान्त देख कर यहां ही स्थिर हो कर सम्प्रदायप्रवर्तन किया” (समा.पत्र. “विशिष्टाद्वैत-अभिमति एक शिष्टाचार” शीर्षक). इस नूतन ऐतिह्यका स्रोत अभी श्री सा.श्रु.जीने प्रकट नहीं किया है. यह तो, किन्तु, आत्मविसंगतिकी पराकाष्ठा हो गयी क्योंकि बिचारे श्रीसहजानन्द स्वामी स्वयं नहीं प्रत्युत अपने गुरु रामानन्दस्वामीको श्रीरामानुजाचार्यसे स्वप्नमें मिली दीक्षाके आधारपर भी अपने-आपको रामानुजसम्प्रदायानुगामी घोषित कर रहे हैं जबकि उन्हें अनन्तकोटिब्रह्माण्डके नायक परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् माननेवाले श्री सा.श्रु.जी उसे अप्रामाणिक सिद्ध करनेको कहते हैं कि श्रीजीमहाराजके गुरु नहीं प्रत्युत स्वयं श्रीजीमहाराज ही रामानुजसम्प्रदायमें दीक्षित होनेपर भी रामानुजी नहीं थे क्या जीअर स्वामीने श्रीजीमहाराजके हाथ-पैर बंधवा कर बलात् उन्हें रामानुजी दीक्षा तो दी नहीं होगी ऐसा यदि उन्होंने किया भी हो तो अनन्तकोटिब्रह्माण्डके नायककी सर्वशक्तिमत्ता उस समय कहां विलुप्त हो गयी थी यदि स्वयंकी अनुमति भी तब अज्ञानवश श्रीजीमहाराजने प्रकट कर दी, ऐसा मानते हैं तो सर्वज्ञता कहां विलुप्त हो गयी थी ऐसी स्थितिमें तो रामानन्द स्वामी भी कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं थे, केवल गुजरातमें उनकी जनश्रुतिवश

प्रसिद्धि थी. अतएव श्रीजीमहाराजने अपने-आपको रामानन्द स्वामीका शिष्य घोषित कर दिया ताकि लोगोंको अपनी ओर अभिमुख कर पायें ऐसी भी कोई प्राचीन हस्तप्रत किसी ग्रन्थागारमें कहीं उपलब्ध न हो जाये इसकी निश्चिन्ता अब रह नहीं जाती.

ऐसी बातें करने-सोचनेसे “सत्यं वद धर्मं चर” के स्थानपर “असत्यमेव वद स्वशिष्यसमुदायबहुलीकरणायैव चरैवेति” ऐसी श्रीसहजानन्द स्वामीकी मानसिकता कोई मानने लग जायेगा. जिसने ‘शिक्षापत्री’का (और बहुलांशमें तो) ‘वचनामृत’का भी तटस्थ अध्ययन किया हो वह ऐसी निर्मूल धारणाओंको कभी स्वीकार नहीं पायेगा. कमसे कम मैं तो ऐसा स्वीकारने कथमपि उद्यत नहीं. इन ग्रन्थोंमें उपदिष्ट धर्मभावनोपेत बातोंका अपनी बुद्धिसामर्थ्यके अनुसार विवेचन करनेपर मुझे तो ऐसी किसी दुर्मनोवृत्तिकी लेशमात्र गन्ध भी उनके चरित्रमें सम्भावित नहीं लगती.

अतएव इसी शीर्षकके अन्तर्गत यह जो कहा गया कि श्री जी.एस्. भट्टके ‘विष्णुस्वामी एंड वल्लभाचार्य’ निबन्धमें ऐसी ही दुर्मनोवृत्ति निबन्धकारने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके बारेमें भी सोची है, उसे भी स्वीकारने मैं तो उद्यत नहीं. क्योंकि महाप्रभुने अति स्पष्टवादिताके साथ अपना श्रीविष्णुस्वामिमतानुवर्ती होना निजग्रन्थोंकी इतिश्रीमें लिख कर और उज्जयिनी तथा श्रीबद्रीनाथ के तीर्थपुरोहितोंको दिये निजहस्ताक्षरोंमें लिखित वृत्तिपत्रोंमें भी घोषित किया है. साथ ही साथ श्रीविष्णुस्वामीकी तामसभक्तिके तथा निजोपदिष्ट निर्गुणभक्तिके प्रकारोंको भगवत्प्रतिपादित चार भक्तिके अन्तर्गत घोषित किया है. उसे देखते हुवे कथमपि ऐसी दुर्मनोवृत्ति महाप्रभुमें भी सिद्ध नहीं हो पाती. श्री सा.श्रु.जीका यह कहना तो इतिहासके अवलोकनसे भी उपपन्न ही है कि महाप्रभुके समयमें विष्णुस्वामिसम्प्रदाय मान्य ग्रन्थ या आचार्यादि पीठ के रूपमें विद्यमान नहीं था. वर्तमान समयमें भी सौर गाणपत्य एवं स्कान्द सम्प्रदायोंके मन्दिरों एवं भक्तों के बचे रहनेपर भी साम्प्रदायिक ग्रन्थ एवं आचार्यपीठ की परम्परा उच्छिन्न हो गयी है, तद्वत्. महाप्रभुके पूर्वज उस अल्पप्रसिद्ध सम्प्रदायके कुलपरम्परासे अनुगामी थे, यह तो उनके ग्यारहवर्षके लेखपत्रके आधारपर भी प्रकट होता है. फिरभी ऐसा सोचा जाये कि स्वयं महाप्रभुको तब उतनी प्रसिद्धि नहीं मिली थी, इसलिये उन्होंने विष्णुस्वामीके

सम्प्रदायके साथ अपना मिथ्या सम्बन्ध अपना जोड़ था. इसे सच मानें तो प्रसिद्धि मिल जानेके बाद उस अनुगामिताका अस्वीकार न तो महाप्रभुने और न अनुगामिओंने आज तक किया करीब सित्तर-अस्स वर्षपूर्व एक बार यह विवाद अवश्य जोरशोरसे सम्प्रदायमें छिड़ा था कि महाप्रभु द्वारा प्रस्थापित शुद्धाद्वैतवाद या भगवदाज्ञया प्रवर्तित पुष्टिभक्तिमार्ग वस्तुतः उन्होंने स्वयं प्रवर्तित किये थे कि ये भी विष्णुस्वामीके ही सम्प्रदायवश उन्हें कुलपरम्परागत थे? देहाभिमानमूलक श्रौत-स्मार्त वर्णाश्रमधर्मकी गायत्रीमन्त्रदीक्षा और तन्मूलक वर्णाश्रमधर्मको भगवदाज्ञया होनेके कारण अवश्यानुष्ठेय मानना पड़ता है. उसे भगवद्भक्ति या भगवत्प्रपत्ति के व्याजसे छोड़ा नहीं जा सकता. यहां इतना ही अवधेय है कि भगवान्की भक्ति-प्रपत्तिको आत्मधर्मतया उत्कृष्ट अवश्य माना जाता है. इसी तरह भेदवादमूलक विहितभक्तिमें पर्यवसित होनेवाली श्रीविष्णुस्वामिसम्प्रदायानुगत गोपालमन्त्रकी दीक्षाकी तुलनामें भी पुष्टिमार्गीय प्रेमलक्षणा भक्ति या प्रपत्ति में पर्यवसित होनेवाली शरणदीक्षा और आत्मनिवेदनदीक्षा को उत्कृष्ट अवश्य माना जाता है. क्योंकि इनका आधार महाप्रभुके शुद्धाद्वैतवादमूलक ब्रह्मजीवका तादात्म्य है. पर एतावता इस श्रीविष्णुस्वामिमतानुगामिताको न महाप्रभुने, न उनके परवर्ती ग्रन्थकार वंशजोंने, न अन्य विद्वानोंने और न भक्तकवियोंने ही कभी अस्वीकार किया : “श्रीव्रजराज शिरोमणि सुंदर भूतल प्रकटे वल्लभचन्द, अवगाहत श्रीविष्णुस्वामिपथ नवधा भक्तिरत्न रसकन्द”, “वन्देऽहं तं विमलहुताशं... श्रीलक्ष्मणसुत विष्णुस्वामिपथ श्रुतिवचमण्डन कहे विष्णुदासं” ये दोनों ही भक्तकवि महाप्रभुके साक्षात् शिष्य थे और निजगुरुमुखसे सुन कर ही गुरुपरम्पराको जान पाये होंगे. महाप्रभुके प्राकट्योत्सवके दिन आज भी इन पदोंका गान होता ही है. अतः महाप्रभुके स्तुतिगान या इतिवृत्त में भी इन्कारा गया नहीं है. अपनी कुलपरम्परागत विष्णुस्वामिमतानुगामिताको त्यागे बिना जो शुद्धाद्वैतमूलक पुष्टिभक्तिका प्रवर्तन महाप्रभुने किया उसका पार्थक्य या उसकी बढ-चढ कर प्रशंसा तो स्वयं महाप्रभुने भी की है और उनके परवर्तिओंने भी की है. इससे कई बार अनुपासितगुरुओंको स्वयं ही यदृच्छादृष्टिपथागत ग्रन्थोद्धरणोंके अवलोकनवश भ्रान्ति होती रहती है कि वाल्लभ मत वस्तुतः विष्णुस्वामिप्रवर्तित वैष्णवसम्प्रदायानुगामी है कि नहीं? वास्तविकता यह है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यसे लेकर अद्यावधि हम सभी विष्णुस्वामिसम्प्रदायमें उसी तरह दीक्षित होते हैं जैसे वल्लभसम्प्रदायमें. तदनुसार विष्णुसम्प्रदायागत गोपालमन्त्र-श्रीनृसिंहमन्त्रदीक्षा भी प्रायः सभी लेते हैं. वल्लभसम्प्रदायानुगतिप्राप्त अष्टाक्षर-

ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा अनिवार्यतया लेते देहाभिमानमूलक वर्णाश्रमानुरोधी गायत्रीदीक्षाकी तरह. वैष्णव सम्प्रदायानुगामिताके वश जैसे वैदिकी गायत्रीमन्त्रदीक्षाका त्याग हम उचित नहीं मानते वैसे ही यहां भी जान लेना आवश्यक है.

(७.साम्प्रदायिक-धार्मिक भेदकी समीक्षा)

अतः जिस रामानुजसम्प्रदायमें श्रीसहजानन्द स्वामी दीक्षित थे उस सम्प्रदायके प्रति जब इस पन्थके अनुगामिओंके ऐसे विरोधी भाव हों, तो महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण और उनके आत्मज श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरण के बारेमें कोई बात छेड़ने लायक नहीं रह जाती. अन्यथा यह कहा जा सकता है कि इन पिता-पुत्रोंके प्रति, अथवा वस्तुतः तो उनके द्वारा उपदिष्ट साधनाप्रणालीके प्रति ही श्रीसहजानन्द स्वामीके हृदयमें हार्दिक लगाव एवं आदरविशेष का भाव था. वचनामृतका अवलोकन करनेपर इतना तो स्पष्ट होता ही है.

जैसे रामानुजीय वेदान्तमें शुद्धाद्वैतवाद अर्थात् जड़जीवात्मक सृष्टि और ब्रह्म के बीच तादात्म्य स्वीकारनेवाले सिद्धान्तको “इत्थं ब्रह्मापि जीवः परिणमति विहृत्यर्थम् इत्यपि असारं स्वानर्थकप्रवृत्तेः प्रसजति च तदा सर्वशास्त्रोपघातः” (तत्त्वमु.३।३०) ऐसे उद्गारों द्वारा मायावादसे भी अधिक गह्र्य पक्ष माना है. ऐसे ही अपनी रामानुजमतानुगामिताको अक्षुण्ण निभाते हुवे श्रीसहजानन्द स्वामीने भी विशिष्टाद्वैतवादके अनुसार इस श्रुतिकी व्याख्या की. वचनामृतमें आता है कि “नृसिंहानन्द स्वामीने पूछा... ‘एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय’ इस श्रुतिवाक्यका... प्रलयकालमें एकमात्र भगवान् थे, वे ही स्वेच्छासे सृष्टिकालमें समस्त जीव-ईश्वररूप हो गये, यह बात तो मूर्ख ही मानता है... भगवान् तो अच्युत हैं वे च्युत हो कर जीव-ईश्वररूप नहीं हो सकते... इसलिये आप श्रुतिवाक्यका अर्थ कहिये... श्रीजीमहाराज बोले ये सब श्रुतिका जैसा अर्थ बताते हैं वैसा नहीं है... एकमात्र पुरुषोत्तम भगवान् अन्तर्यामिरूपसे इन सबमें प्रवेश करके रहे हैं किन्तु जीव-ईश्वरभावको स्वयं ग्रहण करके अनेक रूपोंमें नहीं हुवे, इस प्रकार श्रुतिवाक्यका अर्थ समझना चाहिये” (वचना.ग.प्र.४१). एतावता सिद्ध होता है कि श्रीजीमहाराजको वाल्लभ साधनाप्रणाली ही मान्य थी और वह उनकी श्रीकृष्णके प्रति अनन्यनिष्ठाके अनुरूप भी थी. वाल्लभ वेदान्त परन्तु उन्हें सर्वथा अमान्य था अपनी

रामानुजमतानुगामिताके अनुरूप ही. अतएव स्वामिनारायणीय तीन दीक्षामन्त्रोंमें से दो मन्त्र तो सर्वथा वाल्लभसम्प्रदायकी आत्मनिवेदनदीक्षा और शरणदीक्षा शब्दोंका ही थोड़ा सा शाब्दिक हैरफेर है.

(८.श्रीकृष्णकी उपास्यताके विमर्शकी समीक्षा)

समाधानपत्रके इस खण्डमें उछाले गये मुद्दोंके बारेमें कुछ भी आलोचना लिखनी मुझे उचित नहीं लगती. क्योंकि यदि महाप्रभुसे प्रभावित हुवा बिना स्वयं अपनी पूर्वसिद्ध कुलपरम्परा एवं गुरुपरम्परा के कारण श्रीजी महाराजको श्रीकृष्णके प्रति लगाव था ऐसा मान कर चलें तब भी श्री सा.श्रु.जीकी यह धारणा कि “गुजरातमें... अन्य वैष्णव सम्प्रदायोंकी संख्या बहुत थी. आगन्तुक अनुयायिओंमें अपने-आपको ‘सर्व अवतारसे परे अवतारी’ कहनेपर सम्प्रदायमें और बाहर अपना कार्य दुष्कर बन जाता... इस हेतुको देख कर भगवान् स्वामिनारायणने कहीं-कहीं राधाकृष्णकी बात कही थी... अनुयायी वर्गमें भगवान् स्वामिनारायणके प्रताप और माहात्म्य पर अधिक विश्वास बैठनेके बाद भगवान् स्वामिनारायणने अपने अधिक प्रभावकी बात कही थी” (समा.पत्र.६.श्रीकृष्णकी उपास्यताका विमर्श) मेरे हिसाबसे अप्रामाणिक सिद्ध हो जाती है.

वैसे पता नहीं इस इतिवृत्तमें ऐतिहासिक तथ्य कितना है और अब अधिक प्रसिद्ध हो जानेके कारण अकस्मात् पनपी धृष्टता कितनी है? किसी भी सूरतमें श्रीकृष्णभक्तिको एकस्वीकृत करनेकी मनोग्रन्थि बांधनी अनुचित है. अतः अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान्को सनातन सर्वव्यापी सर्वोपादान सर्वेश्वर सर्वोद्धारक सर्वज्ञ कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सर्वसमर्थ मानता होनेके कारण वाल्लभ सम्प्रदायकी ओरसे इस विषयमें मौन रखना ही उचित मानता हूं. उस सर्वसामर्थ्यमें अविश्वास प्रकट करना मेरेलिये महान् अपराधकल्प है. अतः श्रीकृष्ण श्रीसहजानन्द स्वामीके या उनके सम्प्रदायके उपास्य इष्टदेव न सही हमारे परमाराध्य इष्टदेव होनेके कारण ही इसका प्रत्युत्तर देना अनावश्यक लगता है. क्योंकि जीवात्माओंके उद्धारकी ठेकेदारी यदि परमात्मा किसी एक आचार्य या एक धर्म-सम्प्रदाय को देता हो, तो ऐसा परमात्मा मुझे विश्वात्मा नहीं लगता. अतः हमारे सम्प्रदाय या अन्य किसी सम्प्रदायके बारेमें

ऐसा कोई दावा करे तो मुझे हास्यास्पद कथा ही लगती है. मेरी श्रद्धा है कि विविध धर्म-सम्प्रदाय मुमुक्षु जीवात्माको सच्चा मार्ग तो बता सकते हैं परन्तु उसपर चल पानेकी सामर्थ्य जिसे परमात्मा प्रदान करता है उसकी ही होती है. वह अनेकविध सम्प्रदायोंकी साधनाओं द्वारा मिल सकता है, उसे मिलना हो तो. और नहीं भी मिलता, उसे न मिलना हो तो. परमात्माको किसी एक धर्म-सम्प्रदायकी साधनाका मोहताज मानना उसकी निरुपाधिक अनुग्रहशीलता निरंकुशमुक्तिदानसामर्थ्य सर्वज्ञता सर्वव्यापिता और सर्वेश्वरता जैसे गुणधर्मोंका अस्वीकार है. इन गुणधर्मोंको इन्कारनेपर तो उसे परमात्माके रूपमें मान्य करना भी आवश्यक नहीं रह जाता.

अतः स्वामिनारायण सम्प्रदाय अपनी आरम्भिक अवस्थामें अथवा अब विकसित विश्वव्यापी अवस्थामें वाल्लभ साधना या वाल्लभ सम्प्रदायके आराध्य श्रीकृष्णको न स्वीकारना चाहता हो तो उसका उसका उद्धार नहीं हो सकता है, इतना असमर्थ और संकुचित मनोवृत्तिवाला अपने आराध्य श्रीकृष्णका स्वरूप हो तो, स्वामिनारायण सम्प्रदायके सम्प्रदायके आधुनिक अनुगामिओंकी धारणाके बजाय मुझे स्वयं श्रीकृष्णकी परब्रह्मता अप्रामाणिक लगने लगती है. थोड़ा-बहुत जो इन बातोंपर मैंने ध्यान आकृष्ट किया वह स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीके वचनोंके अभिप्रायकी स्वारसिक मीमांसाके रूपमें ही. नकि परब्रह्म या परमेश्वर के रूपमें एकमात्र श्रीकृष्णके स्वरूपकी अपरिहार्यताके अर्थमें. क्योंकि मुझे लगता है कि आज नहीं तो कल, कल नहीं तो आगामी शतकमें, जब भी अपने आचार्योंके प्रति वफादारीका भाव इस सम्प्रदायमें जाग्रत होगा तो मेरे उठाये गये मुद्दोंपर ध्यान तो देना ही पड़ेगा.

पद्मपुराणोक्त भागवतमाहात्म्यमें “उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धि कर्णाटके गता क्वचित्-क्वचित् महाराष्ट्रे गुर्जेर क्षीणतां गता” (१।४८) ऐसा विधान मिलता है. यह भक्तिके अर्थमें कदाचित् सत्य होनेपर भी गुर्जरदेशियोंकी स्नेहप्रधान मनोवृत्तिको देखते हुवे कुछ इस वचनका अभिप्राय मीमांस्य लगता है. किसी शायरने कहा है कि “अपनी कुए-वफासे डरता हूं आशिकी बन्दगी न हो जाये” इसी तरह गुर्जरदेशवासियोंकी स्नेहमयी मनोवृत्ति कब भक्तिमयी वृत्ति

बन जाती है इस बारेमें कोई भविष्यवाणी कर ही नहीं सकती स्वभावतः असाधारणरूपेण गुर्जरप्रजा स्नेहप्रधान दृष्टिगोचर होती है.

अपने वल्लभसम्प्रदायमें भी कहा जाता है कि महाप्रभुके पौत्र श्रीगोकुलनाथचरणके गुर्जरदेशी शिष्य उन्हें अनन्तकोटिब्रह्माण्ड नायक मानते थे. उनकी ऐसी हरकतोंसे तंग आ कर उनके पितृचरण गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथजीने कहा कि तुम्हारे शिष्य बहुत तकलीफ देते हैं. इसपर क्षुब्ध हो कर श्रीगोकुलनाथजीने अपने शिष्योंको गोकुलसे निकाल देनेको एक नाव मंगायी और उन्हें आज्ञा दी कि इसमें बैठ कर श्रीयमुनाके उस पार मथुराकी ओर सब चले जाओ इसपर सभी शिष्योंने गुरुमें श्रद्धाहास या क्षोभ का भाव प्रकट किये बिना भजन गाना शुरु किया कि “व्हाले म्हारे जीवता पार उतार्या रे के व्हाले म्हारे करुणा करि निस्तार्या रे !” इसपर खीज कर उन्होंने अपनी चरणपादुका उन्हें प्रताड़ित करनेको निशाना ताक कर नदीमें जा रही नावकी तरफ फेंकी और प्रभाव इसका भी विपरीत ही हुवा कि भक्तगण गाने लगे “व्हाले म्हारे पादुकाजी पधराव्या रे ! पधार्या पुरुषोत्तम भवनौकामां, हां रे अमने जीवता पार उतार्या रे !” इस श्रद्धातिरेकका उनके पास भी कोई उपाय नहीं था. केवल इतना लिख कर रह वे रह गये कि “मेरे सेवक मुझे ही साक्षात् पुरुषोत्तम मानते हैं इससे पुष्टिफलके लाभसे तो उन्हें वंचित ही रहना पड़ेगा”. पर उस पादुकाको प्रकट पुरुषोत्तम मान कर शिष्योंने पावडियापन्थ तथा भडूचीपन्थ चला दिया !

उसके बाद पुनः वल्लभसम्प्रदायके अन्तर्गत इन गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीके ही भतीजे गोस्वामी श्रीजयगोपाललालको भी उनके शिष्योंने परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णसे भी अनन्तकोटि सामर्थ्यवान मान कर ‘जयगोपाल-पन्थ’ चला दिया. उसके बाद तो सारे सौराष्ट्र-गुजरातमें हम वल्लभवंशज गोस्वामी आचार्योंको प्रकटपुरुषोत्तम मान कर न जाने क्या-क्या उत्पात नहीं हुवे इधर सो-डेढ़ सो वर्षोंसे हम वल्लभवंशज आचार्योंका का प्रभाव क्षीणसे क्षीणतर होते देख कर एक अन्तर्धारा वाल्लभ सम्प्रदायमें नूतन वल्लभपन्थकी और चल पड़ी है. इसमें अनन्तकोटिब्रह्माण्डोंके नाथ पुरुषोत्तम महाप्रभुके केवल एक रोममें बिराजते हैं, ऐसी अन्धश्रद्धा भरे उपदेशोंसे जनताको ये वल्लभपन्थी बरगलाते रहते हैं. इनके

अनुसार महाप्रभुके उपदेशोंको मानने या अनुसरने की कोई आवश्यकता नहीं. क्योंकि ये उपदेश तो हीनाधिकारी जनोंके लिये दिये गये उपदेश हैं !

स्वयं मेरे पितृचरणके कुछ शिष्य उनको प्रकट पुरुषोत्तम मान कर चरणोंमें तुलसीपत्र समर्पित कर जाते थे. इससे रुष्ट हो कर वे उन्हें अपने पास आने नहीं देते थे. तो वे जब बिचारे निद्राधीन होते तब चुपकेसे उनके चरणोंमें तुलसीपत्र वे मूढ़ लोग समर्पित कर जाते इससे उन्हें इतना मानसिक सन्ताप होता कि बहुधा अभद्र गालीप्रदान तक करने लग जाते, अपने वैदुष्यकी गरिमाको भूल कर बिचारे दोनों पैरोंमें केंसर होनेसे खड़े तो हो नहीं पाते तब परन्तु उनका मानसिक त्रास देखा नहीं जाता था. मुझे लगता है कि श्रीसहजानन्दजीके सम्प्रदायमें हमारे यहांके ऐसी मनोवृत्तिवाले ही कुछ लोगोंने घुस कर अपने नूतन गुरु श्रीसहजानन्द स्वामीकी भी हमारे जैसी ही गति बना दी है. “गुरुः साक्षात् परंब्रह्म”का आदर्श यद्यपि भारतीय संस्कृतिका एक प्रमुख चरित्र है पर गुरुवचनोंकी अवहेलना या अनादर कर के उनका यद्वा-तद्वा आशय मनगढ़ंत निकाल लेना अपनी इस संस्कृतिका दुर्गुण भी है.

स्वयं मैं जब इसी विषयपर एक दिन अपने वैष्णवोंकी सभामें प्रवचन कर रहा था तब श्रोतामेंसे किसीने एक चिट भेजी कि “आप मिथ्याभाषण कर रहे हो. हम तो आपको साक्षात् पुरुषोत्तम ही मानते हैं” मुझे तो अपने प्रभावशाली उपदेशक होनेका गर्व ही ध्वस्त हो गया लगा. मेरे भीतर भक्तिभावोंकी मन्दता और धर्मनिष्ठाकी शिथिलता के अन्तर्निरीक्षण करनेपर इस देहके अवसानके बाद भी अक्षरात्मक व्यापिवैकुण्ठ या गोलोकमें प्रवेश भी पा सकूंगा ऐसा प्रतीत तो होता नहीं

वैसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका उपदेश है कि आराध्य भगवन्मूर्ति साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान् पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही होती है. और उनका सेवास्थल व्यापिवैकुण्ठरूप ही होता है, ऐसे सिद्धान्तमें दृढ़श्रद्धा होनेपर भी उनकी सेवाभक्तिमें वैसी निष्ठा न पनप पानेके कारण अपराधबोध ही रहता है. अतः किस अर्थमें पुरुषोत्तम हो सकता हूं यह समझमें नहीं आता. मानवसुलभ कयी कमजोरियोंसे अपने-आपको सदा ग्रस्त पाता हूं. फिर भी श्रीसहजानन्द स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम

हों या नहीं उनके वचनोंका जैसा आशय मुझे अपनी समझके अनुसार उचित लगा उसे यहां निबद्ध मैंने किया है. क्योंकि यदि प्रक्षिप्त न हो तो उन्होंने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके लिये जो पदप्रयोग किये उसके आधारपर न केवल उन्हें परन्तु उनके अनुगामियोंको भी अपने सुहृद माननेके कारण मैं सोचता हूं कि “स किंसखा योहि हितं न वक्ति”

सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नो भवतु



वादावलीपरिशिष्टम्

(४)

॥अक्षरपुरुषोत्तमद्वैतनिरासवादः॥

(ब्रह्मपरब्रह्मद्वैतनिरासवादः)

(मंगलाचरणम्)

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्टलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्॥
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥१॥

(उपक्रमः)

शुद्धाद्वैतमतप्रत्याख्यानकोटिक्रमः^१ पुरा॥
प्रवर्तितोऽस्ति सहजानन्दैः तम् अनुचिन्त्य हि॥२॥
आलोचयितुमिच्छामि सुहृद्वृत्या न संशयः॥
सहकारस्ततो देयः वाञ्छितार्थफलप्रदः॥३॥
शास्त्रानर्थाद् अशास्त्रार्थात् शास्त्रार्थो हि शुभः सदा॥
रागद्वेषादिरहितः कर्तव्यस्तु मनीषिभिः॥४॥

(विषयसंशयौ)

अक्षरञ्च परञ्चैव ब्रह्मणी द्वे पृथङ्मते॥
विशिष्टाद्वैतवादेतु नव्ये नव्यैरिहोदिते॥५॥
शुद्धाद्वैतमतोन्नीते चाक्षरेऽत्र परस्थितिः॥
विशिष्टाद्वैतवादोक्तप्रक्रियातः प्रसाध्यते॥६॥
तद् इदं युक्तम् उत नो विचार्यं श्रुतियुक्तिभिः॥
श्रुत्यर्थनिर्णयायैव स्वमताग्रहवर्जितैः॥७॥
समन्वायायासपरा परेषां विचाररीतिस्तु विमर्शनीया॥

विशिष्टशुद्धाद्वयवादयोर्वै श्रुतेस्तु तात्पर्यमिहास्ति कुत्र?॥८॥

(परमतनिरूपणात्मकः पूर्वपक्षः)

तत्वानां तन्मतोक्तानाम् अतोऽत्र विनिरूपणम्॥
कृत्वा विमर्शे प्रयते श्रौतार्थपरिशुद्धये॥९॥
जगतो द्वे ह्युपादाने जडाजडविभेदतः॥
तत्र माया जडा ज्ञेयाऽजडौ जीवेश्वरौ मतौ॥१०॥
निमित्तकारणेपि द्वे परं चाप्यक्षरं तथा॥
एवं भिन्नं मिथस्तत्त्वपञ्चकं समुदीरितम्॥११॥

(तदेकदेशिनाम् आधुनिकानां पक्षः)

त्रेधा तत्राक्षरं मूर्तामूर्तधामविभेदतः॥
मूर्तस्तु पुरुषाकारः सेवकः नित्यसंनिधौ॥१२॥
अमूर्तं निखिलाधारं सर्वव्यापि सनातनम्॥
धामरूपन्तु तद् यत्र मुक्तैः साकं परः पुमान्॥१३॥
इत्थं त्रैविध्यसत्त्वेऽपि तत्त्वैक्याद् एकमेव तद्॥
द्वितीयरहितं नूनं गुणातीतं च चिन्मयम्॥१४॥
गुरुपदिष्टश्रीराधाकृष्णादियुगलस्य वै॥
न्यकृत्योपास्यतां केचित् तच्छिष्याधुनिकाः पुनः॥१५॥
सहजानन्दगुणातीतानन्दयोः युगलार्चकाः॥
एवं त्रिधाक्षरं प्राहुः स्वगोष्ठिपरिकल्पितम्॥१६॥

(आधुनिकानान्तु निजाचार्योक्तिभिरपि मतवैपरीत्यमिति
अनेकाक्षरत्वाप्रामाण्यनिरूपणम्)

बहवः पुरुषाः मूर्ताः साधर्म्याद् अक्षरात्मकाः॥
क्वचित् श्रुताः तथाप्येकोऽक्षरो न पुरुषः क्वचित्॥१७॥
वचनामृते न वा शिक्षापत्यां वाप्युपलभ्यते॥

त्रैविध्यम् अक्षरस्योक्तं मूलं तत्र भवेन्नवा॥१८॥
विशिष्टेन विशिष्टस्य चैक्यं स्वीकृत्य नव्यताम्॥
श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः स्वमतेऽकुन्द्रयत् क्वचित्॥१९॥
जगद्विशिष्टन्तु तदक्षरं स्यात्
परस्तथैकश्च हि यद्विशिष्टः॥
विशिष्टवैशिष्ट्यवतोऽद्वयत्वाद्
मतं स्वकीयन्तु नवीनम् आह॥२०॥

(एतस्मिन् मते श्रुतिविरोधोऽपि इति निरूपणम्)
विभेदश्चाभेदो भवति विदितो वेदवचनैः
विवक्षा गौणी स्यात् कथमिह तदा त्वन्यतरयोः॥
न तर्कः प्रत्यक्षः श्रुतिमितविरोधे प्रभवति
भवेत् सिद्धं तस्माद् उभयम् अथवा वाल्लभमतम्॥२१॥
सर्वं भवति विज्ञातं ह्येकविज्ञानतो यदा॥
भेदे तदा कथं वाक्यं श्रौतं समुपपद्यते॥२२॥
‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’सूत्रे परम् उताक्षरम्॥
जिज्ञास्यत्वेन किं प्रोक्तं जिज्ञास्यं भवतैदपि॥२३॥
निमित्तकारणाद् जन्मस्थिती शक्ये कथञ्चन॥
निमित्तेतु न कुत्रापि लयः कार्यस्य दृश्यते॥२४॥
आधारत्वं च जन्मादेः कर्तृत्वं केवलं नहि॥
श्रूयते ब्रह्मणस् तस्माद् न जगद्भिन्नतेष्यते॥२५॥

(तत्र लयाधिकरणतयोपादानत्वान्यथोपपत्तिनिरासः)
ननु तोयेऽनुपादाने दुग्धं च लवणं तथा॥
लीयते या गतिस्तत्र तथेहापीति चेद् नहि॥२६॥
यस्मात् तप्तेतु पयसि कृतेनातञ्चनेन हि॥

प्रकटं जायते तत्र द्रवत्वघटकं जलम्॥२७॥
सांसिद्धिकद्रवत्वान्तु दुग्धम् अप्सु विलीयते॥
नैमित्तिकद्रवत्वेन लवणं कठिनं तथा॥२८॥
द्रवत्वेन गुणैक्याद्धि वस्तुचैक्याद् वा लयो भवेत्॥
इत्थमेव मतन्त्वैक्यं विशेषाद्वैतवादिनाम्॥२९॥
पर्यवस्यति तच्चापि भेदाभेदमते तदा॥
प्रयातो भेदवादोऽतः प्रलयाय न संशयः॥३०॥

(ब्रह्मणः सृष्ट्यात्मनोद्भवे अजत्वव्याहतिनिरसनम्)
सत्येवम् अविकारित्वं तथाऽजत्वमपि स्फुटम्॥
श्रुत्युक्तं बाधितं वै स्यादिति शक्यं न कर्हिचित्॥३१॥
गीतायां भगवानेव शंकाम् एतां निराकरोत्॥
“अजोपि सन् अव्ययात्मा भूतानाम् ईश्वरोऽपि सन्
प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया”
इत्यस्माद् वचनात् सिद्धः सम्भवोऽजस्य सर्वथा॥३२॥
“तद् आत्मानं स्वयम्” इति श्रुतिश्चैव “तद् ऐक्षत”॥
“अजायमानो बहुधा विजायत” इति श्रुती॥३३॥
एतादृशाभिरन्याभिः सम्भवो न ह्यसम्भवः॥
अजश्चाप्यविकारी च जायतां जगद् ईश्वरः॥३४॥
गर्भवादजनिबाल्यविकारान्
स्नेहघातशयनाशनधर्मान्॥
भूतलेतु भगवान् अवतीर्णो
नानुभावयति किं निखिलान् वै?॥३५॥
कारणत्वं च धामत्वं ब्रह्मत्वं त्रितयं क्रमात्॥
उपादानतया सृष्टेः हरेराश्रयतः स्वतः॥३६॥
स्वाभाविकम् इहाद्वैतं मतं द्वैतं सदैच्छिकम्॥

एषएव हि भेदो नो भास्करीयाद् मतादिह॥३७॥

“सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो

नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते”॥

इति श्रुतेस्तत्त्वगतो ह्यभेदो

भेदस्तु बोध्यः किल नामरूपयोः॥३८॥

कार्यकारणभावस्य विधायकनिषेधके॥

संगते रूपभेदात्तु ब्रह्मण्येवोभयात्मके॥३९॥

आत्यन्तिकेतु भेदेहि भवता च निरूपिते॥

कारणत्वं भवेत् कस्याक्षरस्याथ परस्य वा?॥४०॥

भेदवादम् अवलम्ब्य भवद्भिः

कारणत्वम् इह चैकतरस्य॥

उच्यते यदि तदान्यतरस्य

ह्यापतेद् इतरथा खलु सिद्धिः॥४१॥

उत्पत्तौ यद् व्यवहितं ह्यन्यथासिद्धमेव तत्॥

अक्षरद्वारकं तस्माद् न परं कारणं भवेत्॥४२॥

अभीष्टं कारणत्वं चेद् यदि श्रीपुरुषोत्तमे॥

अलं तदान्तर्गुणा ब्रह्मणा ह्यक्षरेण तु॥४३॥

उक्त्वा जन्मादिकर्तृत्वं कारणत्वं च यत् पुनः॥

प्रोक्तं परस्य सहजानन्दैस्तत्तु निरुच्यताम्॥४४॥

उपादानं विवर्तस्य परिणामस्य वा पुनः॥

आधारकारणं वा स्याद् भिक्षुसम्मतमेव हि॥४५॥

विवर्तपरिणामयोः भवति कारणं नो परं

किमात्मकम् अतः तदा तदिह कारणं स्यात् पुनः॥

भवेच्च यदि कल्पिता खड्गव तत्र चाधारता

मता न परमेश्वरे गगनवद् निराकारता॥४६॥

जन्मादिसूत्रलक्ष्यत्वं ब्रह्मणोस्तु द्वयोरिह॥

कस्मिन् अभीष्टम् इत्येद् वक्तव्यं सुविचार्यहि॥४७॥

यद्यक्षरे परस्मिन् स्याद् अब्रह्मत्वं तदा ध्रुवम्॥

परस्मिन् यद्यभिप्रेतं कारणं न तदाक्षरम्॥४८॥

इष्टापत्तेर्न लाभोऽत्र नैकशः श्रुतयस् तदा॥

तद्बोधिकास्तु कुप्येरन् मतं चाश्रौततां व्रजेत्॥४९॥

“तद् आहुर् अक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणं,

विष्णोर् धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः”

चेत् कारणत्वं पुरुषोत्तमस्य

केनापि वाक्येन मतं तदैतद्-॥

वाक्येन भेदेऽक्षरमेव कारणं

भवेत् तदा श्रीपुरुषोत्तमस्य॥५०॥

ब्रह्मत्वेनतु लक्ष्यैक्यं चैकं तल्लक्षणं तथा॥

पृथक् तान्यक्षरत्वादिरूपभेदैर् मतान्यपि॥५१॥

अस्मदीये मते तस्माद् नास्त्युक्तं दूषणं तथा॥

दूषणानि यथास्माभिर् वर्ण्यन्ते तु भवन्मते॥५२॥

त्रैविध्यम् अक्षरे चैक्यं स्वीकृत्य भवतापि हि॥

प्रोच्यते तद्वद् अस्माभिः पराक्षरजगत्स्वपि॥५३॥

युष्माभिर् द्वैतवादोहि स्वीकृतोऽस्ति क्षराक्षरे॥

विशिष्टाद्वैतशुद्धाद्वैते हि चोक्ते पराक्षरे॥५४॥

स्पष्टः शुद्धाद्वैतवादः त्रिविधे चाक्षरे तथा॥

पुरुषाक्षरयोर् एवं गढडावचनामृते॥५५॥

विरुद्धानान्तु वादानां समाहारस्तु दुःशकः॥

नापि चैतादृशो दोषः शुद्धाद्वैते हि कश्चन॥५६॥

तादात्म्यवादांगीकारात् सर्वत्रैवोपपादनाद्॥

भेदक्षमो ह्यभेदश्च तादात्म्यम् इति लक्षणात्॥५७॥

अन्तर्याम्यभवद् नूनं वाल्लभं ह्यक्षरं त्विह॥

धामरूपं चाक्षरं यद् गीयतेऽन्तर्गडुः पुनः॥५८॥
 परस्मात् तदभिन्नं वा भिन्नं वेतीह निश्चयः॥
 शिक्षावचनग्रन्थाभ्यां जायते नहि लेशतः॥५९॥
 घटादारभ्य प्रकृतिंयावद् अंगीकृतस्य हि॥
 स्वरूपपरिणामस्य वचनामृतसंग्रहे॥६०॥
 तादात्म्यपरिणामीया प्रक्रियात्ववलम्बिता॥
 शुद्धाद्वैतस्य भाषायां चित्रं तद् द्वैतवादिनाम्॥६१॥
 प्रधानाग्रेऽक्षरं यावद् उत्पत्तिप्रलयैःशतः॥
 परिणामः कथम्भूतस् तत्र धर्मस्वरूपयोः॥६२॥
 नास्त्येव स्पष्टता वाण्यां जातो भेदो महान् इह॥
 असमञ्जसं हि निखिलं श्रुतिवाक्यविरोधतः॥६३॥

(भगवद्गीतोक्तिविमर्शनेन आशंकापरिहारौ)

नन्वेतद् असमीचीनं गीतोक्तातु विरोधतः॥
 “द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षरएव च,
 क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते,
 उत्तमः पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृतः,
 यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः,
 यस्मात् क्षरम् अतीतोऽहम् अक्षरादपि चोत्तमः,
 अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः”
 ‘पुरुषा’विति प्रयोगोऽत्र ‘रूपे’पदविवर्जनात्॥६४॥
 अन्यत्वोत्तमत्वाभ्यां क्षराक्षरपराः पृथक्॥
 आगतस्तत्त्वभेदोऽतः शुद्धाद्वैतं च निर्गतम्॥६५॥
 इति चेत् तन्न वै युक्तं ह्यस्मदुक्ताविमर्शनात्॥
 परस्त्वन्यश्चोत्तमश्च ह्यक्षराद् रूपभेदतः॥६६॥
 ‘रूपे’नोक्त्वा तु ‘पुरुषौ’ यच्चोक्तं तत्र पृच्छ्यते॥

द्वावेव पुरुषौ कस्माद् न कस्मात् पुरुषास्त्रयः?॥६७॥
 पुरुषोत्तमो न लोके चेत् कुत्र स्याद् अक्षरं तदा॥
 लोके? हीति विचार्यैव दातव्यमिह चोत्तरम्॥६८॥
 व्यापकत्वाद् अक्षरं चेद् लोके किं न परस्तथा॥
 जीवात्मत्वे त्वक्षरस्य नाक्षराद् उत्तमः परः॥६९॥
 जीवादेवोत्तमत्वात् च विषमं समुपस्थितम्॥
 नातः पराक्षरद्वैतं मन्तव्यं शास्त्रमानिभिः॥७०॥
 असमीक्षिताभिधानं तद् यद् एवम् उपवर्ण्यते
 पराक्षरे पृथग् इति न श्रुतावुपलभ्यते॥७१॥
 अथापि शास्त्रतोऽधिका
 मता गुरौतु भावना॥
 भवेद् भवन्मतं तदा
 तु बाह्यभावदूषितम्॥७२॥
 विनिगमकं नहि युष्मदुक्तौतु किञ्चिद्
 भिन्ने चैते तत्त्वतो रूपतो नो॥
 परम् इह वर्णितम् अक्षरत्वेन शास्त्रे
 प्रोक्तं नो तच्चाक्षरं किं तथाहि॥७३॥
 गीतायामपि भेदोऽयं तत्त्वतस्तु मतो नहि॥
 “अक्षरं ब्रह्म परमं” वचनाद् अक्षरं परम्॥७४॥
 परस्याप्यक्षरत्वेन वर्णनं ह्युपलभ्यते॥
 दिव्यदृष्ट्युपलम्भेन पार्थोऽभेदं ह्यवर्णयत्॥७५॥
 असकृत् “त्वम् अक्षरम्” इति ततोऽभेदस्तयोर् मतः॥
 अक्षरस्य शरीरत्वं परस्य च शरीरिता॥७६॥
 अभेदेऽप्युपपद्येत रूपभेदाद् मतेऽपि नः॥
 प्रामाणिको रूपभेदः तत्त्वभेदो नवै क्वचित्॥७७॥
 क्षराक्षरपराणां हि तादात्म्यम् उपपद्यते॥

पुरुषोत्तमस्तूतमोहि पुरुषाद् अक्षराद् इह॥७८॥
नैवातीतं ह्युत्तमांगं शिरो वै स्वशरीरतः॥

(परस्य अक्षरातीतताविमर्शः)

अन्यथाऽतीतता केयं निर्वाच्या सुविचार्य हि॥७९॥
किं देशातीतता ह्याहोस्वित् कालातीतता पुनः॥
द्रव्यातीतता वा स्यात् स्याद् रूपातीतताथवा॥८०॥
प्रवृत्तिसामर्थ्यातीतताथवेति नचादिमा॥
उभयोर्व्यापकत्वानु, द्वितीयापि न सम्भवा॥८१॥
नित्यत्वाद् उभयोरेवं, तृतीयापि न सम्भवा॥
परस्पराधाराधेयभावो यत्र मतो यथा॥८२॥
मृत्तिकाघटयोः तत्र न द्रव्यातीतता मता॥
घटरूपं मृत्तिकायां समवेतं यथा मतम्॥८३॥
कपालादिक्रमेणैवम् अणवोऽपि मृदो घटे॥
समवेताः सन्त्यवयवावयविभावेन तत्र हि॥८४॥
परोऽप्येवं शरीरित्वेनाक्षरे वर्तते न वा?॥
ननु नात्र मतो रूपरूपिभावोऽथवेतरः॥८५॥
अवयवावयविभावोऽपि परस्योताक्षरस्य वै॥
इति चेत् तद् नवै युक्तं नैवं भेदोहि सिद्धयति॥८६॥
सच्चिदानन्दताधर्मो द्वयोश्चैको यदा मतः॥
अवच्छेदकतैक्येतु द्रव्यैक्यं ह्यापतेदिह॥८७॥
द्रव्यत्वम् उभयोर् उक्तं सच्चिदानन्दतापि हि॥
परस्पराधेयतोक्ता तथैवाधारतापि हि॥८८॥
अतश्चैवं नवै द्रव्यातीतत्वं खलु सम्भवेद्॥

(रूपातीतताम् आदाय शंकासमाधाने)

यादृग्रूपं न वृक्षस्य तादृग्रूपं प्रसूनगम्॥८९॥
द्वैतम् एवं तयोः रूपातीततामूलकं मतम्॥
विलक्षणेन रूपेण साकं पुष्पं यथा तरौ॥९०॥
सविलक्षणरूपो हि परोप्येवं हि चाक्षरे॥
पशुत्वेन गवाश्वौ तु समानावपि रूपतः॥९१॥
अश्वातीतं हि गोरूपं तस्माद् भेदो गवाश्वयोः॥
यथा चाभिमतो लोके तथा स्याद् एतयोरपि॥९२॥
सच्चिदानन्दरूपेण समानेऽपि पराक्षरे॥
रूपभेदात् परस्येत्थं स्याद्रूपातीततापि हि॥९३॥
रूपभेदात् परस् तस्माद् अक्षरातीत उच्यते॥
अत्र ब्रूमो नवै युक्तं चैतद् वक्तुं कथञ्चन॥९४॥
वस्तुभेदो यथा रूपद्वैविध्याद् वर्ण्यते तथा॥
अभेदोऽपि हि रूपैक्यात् कुतो नेति निरुच्यताम्॥९५॥
तादात्म्यम् आगतं नोचेत् भेदाभेदौतु निश्चितौ॥
तस्माद् रूपातीततापि न भवेद् लाभकारिणी॥९६॥
श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः द्रव्यतां गुणतामपि॥९७॥
स्वीचकार प्रभावल्यां तादात्म्यख्यापिकां द्वयोः॥९८॥
दत्ता तिलाञ्जलिः तस्माद् द्वयोर्भेदाय सर्वथा॥
गले च पतितं नूनं शुद्धाद्वैतं कुतो नहि॥९९॥

(इन्द्रियाणां मनोऽधीनतोदाहरणेन शंकासमाधाने)

नन्विन्द्रियाणां मनसो ह्यधीनं

प्रवृत्तिसामर्थ्यम् इहास्ति तद्वत्॥

मतं पराधीनम् अतोऽक्षरस्य

प्रवृत्तिसामर्थ्यम् इहास्ति भेदकम्॥९९॥

(इति चेद्)

नचाभ्युपेतं मन इन्द्रियेषु

मतानि नो वै मनसीह तानि॥

प्रवृत्तिसामर्थ्यम् इतीन्द्रियाणां

मनःपराधीनतयास्ति भेदकम्॥१००॥

तथाक्षराद् नो बहिर् अभ्युपेतः

परः स्वतन्त्रोऽपि भवन्मतेतु॥

स्थितस्तदन्तस्तु नियामकोऽपि सन्

बहिश्च, भेदं कथम् आवहेत?॥१०१॥

(पुनः शंकासमाधानान्तरे)

नचेह देहे किल तन्नियामकः

किं नास्ति भिन्नः खलु जीवणः॥

तथाक्षरे स्यात् पुरुषोत्तमः परो

न तेन दूष्यं किमपीति शंक्यम्॥१०२॥

तदाधारः क्वचिद् भिन्नो यथा भूमिर्जलस्य हि॥

तद्व्यापकोऽपि भिन्नः स्याद् आकाशो मूर्तवस्तुनः॥१०३॥

तदन्तस्थो भवेद् भिन्नो जीवो देहस्थितो यथा॥

नियामकोऽपि भिन्नः स्याद् राजा राज्ये गृही गृहे॥१०४॥

नद्याधारा हि या भूमिः नैव सा जलव्यापिका॥

आकाशे विद्यते तोयं वर्षतौ पृथिवीं विना॥१०५॥

देहस्थितोपि जीवोऽयं न देहव्यापकः शवे॥

नियामको यो राज्यस्य व्यापको नाप्यसौ नृपः॥१०६॥

गृहस्योत गृहत्वस्य गृहस्थो व्यापको नहि॥

नचान्तस्थोपि सर्वः स्यात् कदाचित्तु नियामकः॥१०७॥

यथा घटो गृहस्थोऽपि न गृहस्य नियामकः॥

तस्माद् भवितुम् अर्हन्ति भिन्नाश्चैते मिथः सदा॥१०८॥

यत् पुनः स्यात् तदाधारस्तथा तद्व्यापकोपि च॥

तदन्तस्थोऽपि सोऽत्र स्यात् तन्नियामकएव च॥१०९॥

स कथं नु भवेद् भिन्नो दृष्टः क्वापि नवेदृशः॥

नन्वभिन्नोऽपि नो दृष्टः इति चेद् नैवम् अत्रहि॥११०॥

उपादानन्तु यद् द्रव्यं कार्यरूपस्य वस्तुनः॥

आधारं व्यापकं चान्तस्थितं गुणनियामकम्॥१११॥

दृष्टं, दृष्टौ मृद्घटौतु किमित्थं नो जनैः सदा?॥

पराक्षरे कुतो नैवं स्वीकर्तुम् इह सम्भवे॥११२॥

“आश्रितत्वाद् गुणश्चायं प्रसृतत्वात् पृथक्स्थितः॥

द्रव्यात्मकोऽक्षरश्चायं बृहत्वाद्”इति वर्णने॥११३॥

“एकस्यैव गुणत्वे च द्रव्यत्वे न विरोधिता॥

अवृत्तिवृत्तिमत्त्वेऽपि चान्तर्यामी”ति वर्णने॥११४॥

प्रभावल्ल्यां स्वकीयायां शुद्धाद्वैतप्रभावितः॥

पराक्षरे द्रव्यगुणौ ह्यब्रवीत् कृष्णवल्लभः॥११५॥

तादात्म्यं द्रव्यगुणयोः नास्ति चेद् नाक्षरं गुणः॥

अस्ति चेत् खण्डिता नूनं भिदा चात्यन्तिकीत्विह॥११६॥

(किञ्च)

अक्षरस्य शरीरत्वं येन येन वाक्येन सिद्धयति॥

सिद्धयत्येवतु तेनैव पराज्ञानं तथाक्षरेः॥११७॥

स्वगुरुं पुरुषाकारम् अक्षरं मनुतेः३३ दवे॥

श्रीरमेशः गुरौ तस्मात् पराज्ञानं कुतो नहिः?॥११८॥

अकायम् अशरीरं३४ तत् पृथिव्यादिस्तमोऽवधिः३५॥

सर्वाण्यपि शरीराणि तस्य श्रुतिमतानि च॥११९॥

नह्यक्षरं केवलमेव चात्र

शरीररूपेण परस्य पुंसः

प्रोक्तं ह्यनेकेषु शरीररूपे-

ष्वेकं परं तत्त्वम् इह श्रुतौ हि॥१२०॥
 शरीरत्वेन धामत्वे धाम्नोऽक्षरतया तथा॥
 स्वीकर्तव्यं भवेत् कतरद् वक्तव्यं भवतैदपि॥१२१॥
 बहूनि सन्त्यक्षराणि बहूनां वाक्षरात्मता॥
 नूनं ह्युभयतोपाशरज्जुबद्धो भवानिह॥१२२॥
 तस्माद् अभिन्नं सर्वं स्यात् परात् चैवाक्षराद् अपि॥
 (किञ्च)

सर्वाण्यपितु धामानि साक्षराणि परे लये॥१२३॥
 तस्मिन् एकीभवन्तीति श्रूयते तस्य का गतिः॥
 पराक्षरजगद्भेदवादोऽतो न श्रुतौ मतः॥१२४॥
 य'द्यक्षरं' जीवपरं वाचकं ह्यभ्युपेयते॥
 रामानुजमते यद्वत् तद्वत् सर्वत्र नो कुतः॥१२५॥
 कल्पनीयम् इदं नेष्टं निखिलानां लयात् परे॥
 एकीभवनवचनात् पञ्चत्वं याति पञ्चकम्॥१२६॥
 नित्यत्वं पञ्चकस्योक्तं श्रुतौ तद् नोपलभ्यते॥
 आविर्भावतिरोभावप्रक्रियाम् अवलम्ब्य तु॥१२७॥
 सूक्ष्मावस्थासु चैतेषां तिरोभावो लयस्य चेद्॥

(मा एवम्)

ब्रह्मेतरतया सर्वं "सदसत्सदसत्"पदैः॥१२८॥
 निषिद्ध्यते ततः सूक्ष्मावस्थापन्नं त्रिकं तु तत्॥
 लयाद् ऊर्ध्वं नवै शक्यं वक्तुं चाभिधया परे॥१२९॥
 न शक्यते सुबालोपनिषद्यपि चिकीर्षिता॥
 स्वमतश्रौततासिद्ध्यै क्रीडार्थघटनात्मिका॥१३०॥
 श्रीमद्रामानुजार्यकृतयोः स्वोपजीव्ययोः॥
 गीतायाश्चापि सूत्राणां भाष्ययोः नास्ति तत्कथा॥१३१॥
 अप्रामाण्यमतः स्वोपजीव्योऽगीकार्यमेव हि॥

नो चेत् तदनुरोधत्तु कार्यः त्यागोऽक्षरस्य वै॥१३२॥
 (ननु)

तत्र श्रीसहजानन्दस्वामिनः पुरुषोत्तमाः॥
 तेषां वक्तुम् अवक्तुञ्चाप्यन्यथावक्तुमेव च॥१३३॥
 समार्थ्याद् नास्ति वै किञ्चिद् उपजीव्यं तु तत्कृते॥
 (तत्र ब्रूमः)

तत्तूचिततरं वाक्यं तत्तन्मतवतां सदा॥१३४॥
 स्वगुरौ भगवद्बुद्धेः श्रुत्याऽऽदिष्टतयापि च॥
 अस्मद्विधानाम् अन्येषाम् अन्याचार्यानुवर्तिनाम्॥१३५॥
 स्वगुरावेव तद्बुद्धिः नैव सा तु भवद्गुरौ॥
 तथापि तदभीष्टेषु शास्त्रेषु यदि शक्यते॥१३६॥
 प्रदर्शयितुमेवं हि स्वगुरोः परमात्मता॥
 सिद्धा स्यान्निरपेक्षा हि पुरुषोत्तमता तदा॥१३७॥
 नो चेत् स्वशिष्यसापेक्षा पुरुषोत्तमता भवेत्॥
 आचार्याणां प्रमाणत्वं तथापि श्रुतिमूलकम्॥१३८॥
 शास्त्रार्थेत्विह सर्वेषाम् आचार्याणाम् अधीनता॥
 "आचिनोति हि शास्त्राणि स्वाचारे स्थापयत्यपि"॥
 वाक्यसिद्धाचार्यता हि वैपरीत्ये नवै मता॥१३९॥
 शास्त्राणां विषयस्तावत् शास्त्रार्थो यावदिष्यते॥
 शिष्याणाम् उपदेशार्थं सम्भवेद् निरपेक्षता॥१४०॥
 स्वगोष्ठिसिद्धिसिद्धान्तस्योपदेशे गुरोरिह॥
 बुद्धादेः भगवत्त्वेऽपि उपदेशाप्रमाणता॥१४१॥
 श्रुत्यादिशास्त्रतः तस्य प्रतिकूलतया यथा॥
 तथैव वा गतिर्ज्ञेया भगवत्वाग्रहे गुरौ॥१४२॥
 शास्त्रानुकूल्यं स्वमते नोचेत् साध्यं स्वयुक्तिभिः॥
 "सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्य" घोषणा॥१४३॥

कृता येन स्वकीयेषु स्नेहादरसमायुता॥
तस्य निन्दा भवेद् नूनं कृतघ्नत्वाय सर्वथा॥१४४॥
इयन्तु भावना रूढा दृढा मदहृदये सदा॥
निन्देयमिति कस्यापि प्रतीतिर् न प्रमा ह्यतः॥१४५॥
तद्भिन्ना शास्त्रचर्चेयं तत्त्वज्ञानशुभं करी॥
“सर्ववैष्णवराजश्री”त्युक्त्वास्मन्मतखण्डनम्॥१४६॥
यथाऽकरोत् स सहजानन्दः तद्वद् इदं मम॥
शास्त्रार्थनिर्णयायैव तत्र शंका न काचन॥१४७॥

(उपसंहारः)

ब्रह्माज्ञानप्रभवं प्रोक्तं भवभयमखिलं
शुद्धाद्वैतं मतम् अस्माकं श्रुतिशतगदितम्॥
तादात्म्यं वस्तुनि सर्वस्मिन् विलसति तदिदं
ज्ञात्वा कृष्णं भज सन्त्यज्याखिलकलिशबलम्॥१४८॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणानुचरेण गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन
श्याममनोहरेण विरचितो अक्षरपुरुषोत्तमद्वैतनिरासवादः
सम्पूर्णः

॥सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नोस्तु॥

१.वचना.ग.प्र.४१. २.परब्रह्ममायेश्वरजीवाः हि शाश्वताः, तत्त्वार्थाः ईरिताः
भिन्नाः नित्यसिद्धाः अनादयः, श्रुतिभिः परमात्मोक्त आनन्दतत्त्वमेव हि स ब्रह्मतत्त्वं
प्रकाशौ वै मायातत्त्वं तमो जडम्, ईश्वरः ओजः तत्त्वं पृथगैश्वर्यम् अद्भुतम्,
जीवात्मा ज्ञानतत्त्वं वै तानि द्रव्याणि वस्तुतः, परमात्मा शरीरी अस्ति अन्येषां
सद्वर्षणां सदा, परमेशेतरत् सर्वं शरीरं परमात्मनः (तत्त्वप्रभा.५४६-५४९).
३.“मूर्तरूपं च ‘अक्षरा’ख्यं ‘प्रकाशा’ख्यन्तु अमूर्तकम्, मूर्तामूर्तकृतो भेदस्

तत्त्वैक्येऽपि उपचारतः प्रकाशप्रभयोः भेदो यथा ऐक्येऽपि समुच्यते, सूर्यातपप्रभेदोऽपि
यद्वद् ब्रह्मणि तद्विधः” (तत्त्वप्रभा.५७१-७३). ४.वचना.वर.प्र.१८, शि.प.१०८-
१०९. ५.राधाकृष्णनी युगल उपासना आपणने वल्लभाचार्य निम्बार्काचार्य चैतन्य
महाप्रभु सूरदास नरसिंह मीरा वगैरे शीखवी छे. युगल उपासनाने तेना श्रेष्ठ अने
शुद्ध स्वरूपे भगवान् स्वामिनारायणे समजावी छे. तेमणे कह्युं छे अक्षररूप थईने
पुरुषोत्तमनी भक्ति करवी. पुरुषोत्तम भगवान् स्वामिनारायणनी तेमना उत्तमभक्त
अक्षरगुणातीतानन्दस्वामी साथेनी उपासनाने भगतजी महाराज शास्त्रीजी महाराज
अने वर्तमान काळे प्रमुख स्वामिजीद्वारा पोषण मल्युं छे (‘स्वामिनारायणनगर’
८५तमे वर्षीयमहोत्सवस्मारिकापु.१४). ६.वचना.ग.म.५०. ७.(-). ८.“स इममेव
आत्मानं द्वेषा अपातयत्” (बृह.उप.१।४।३), “तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम्
आत्मा अयम् एकः सन् एतत् त्रयम्” (बृह.उप.१।६।३). ९.“एकविज्ञानेन सर्वम्
इदं विज्ञातं भवति” (छान्दो.उप.३-६।२।३) इति श्रुतिवचनकदम्बकं एकविज्ञानेन
सर्वविज्ञानसाधकत्वविषये प्रमाणम्. १०.लयनिरूपकाणि तु वचनानि
“‘तज्जलान्’इति शान्त उपासीत” (छान्दो.उप.३।१४।१), “यत् प्रयन्ति
अभिसंविशन्ति (तैत्ति.उप.३।१) “प्रजायन्ते तत्र चैव अपियन्ति”
(मुण्ड.उप.२।१।१). ११.ब्रह्मजगतोः अभेदसाधकानां
जगज्जन्माद्याश्रयत्वोपादानत्वकर्तृत्वादिधर्माणां निरूपकाणि वचनानि : “तद्वैक
आहुः असदेव इदम् अग्रे आसीत्. कथम् असतः सद् जायेत सत्त्वेव खलु, सौम्य,
इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तद् ऐक्षत ‘बहु स्यां प्रजायेय’ इति”
(छान्दो.उप.६।२।२), “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते... यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति
तद् विजिज्ञास्व तद् ब्रह्म” (तैत्ति.उप.३।१), “तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत”
(तैत्ति.उप.२।७) “यथा उर्णनाभी... तथा अक्षरात् सम्भवति इह विश्वम्”
(मुण्ड.उप.१।१।७) इत्येवमादयः. १२.“ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो
द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः... ब्रह्म अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्”
(तैत्ति.ब्राह्म.२।८।१।७). १३.“तद् आहुः अक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणं विष्णोः
धाम” (भाग.पुरा.३।४।११), “यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम”
(भग.गीता.१५।६) १४.भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म
एतत् (श्वेता.उप.१।१२). १५.तद् इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव
व्याक्रियत ‘असौनामा अयं’ ‘इदंरूप’ इति... सएष इह प्रविष्टः (बृह.उप.१।३।७),
यद् वै किञ्चन अनूक्तं तस्य सर्वस्य ‘ब्रह्म’ इति एकता (बृह.उप.१।५।१७).
१६.वचना.ग.प्र.४५. १७. श्रीर.म.द्वेलिखित ‘द भक्त-भगवान् रिलेशनशिप’